ॐ

नमः समयसाराय

ज्ञानचक्षु : भगवान आत्मा

परमपूज्य भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम समयसार की गाथा 320 की
पूज्य आचार्य जयसेन द्वारा रचित टीका पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
के गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद

गुजराती सङ्कलन
ब्रह्मचारी हरिलाल जैन,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

हिन्दी अनुवाद / सम्पादन
देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

प्रकाशन सहयोग
श्री ढेलाबाई चेरिटेबल ट्रस्ट
महावीर चौक, खैरागढ़ - 491881
जिला - राजनाँदगाँव (छत्तीसगढ़)

प्रकाशक :

तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
सासनी - 204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
(मङ्गलायतन विश्वविद्यालय, अलीगढ़ में आयोजित, श्री आदिनाथ पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर दिनाङ्क 16 से 23 दिसम्बर 2010)

ISBN NO. :

न्यौछावर राशि : 18.00 रुपये मात्र

AVAILABLE AT -

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN**
Sasni - 204216, Hathras (U.P.) India
e-mail : info@mangalayatan.com

— **PANDIT TODARMAL SMARAK BHAWAN**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur - 302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH,**
SHREE KUNDKUND-KAHAN PARMARTHIK TRUST,
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30, Navyug CHS Ltd.,
V.L. Mehta Marg, Vile Parle (W),
Mumbai - 400056
Ph. : 022-26130820, (Res.) 24015434
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **SHRI KUNDKUND KAHAN JAIN SAHITYA KENDRA**
Songarh (Guj.)

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :
देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

परम पूज्य भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित, जगत चक्षु परमागम समयसार की गाथा 320 की श्रीमद् भगवत् जयसेनाचार्य द्वारा रचित टीका पर हुए परम उपकारी स्वानुभूति विभूषित समयसार युग प्रवर्तक **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के मङ्गल प्रवचन '**ज्ञानचक्षु : भगवान आत्मा**' का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयं बुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, अपितु उसे प्राप्त भी किया और प्रचारित भी किया। आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता।

विक्रम सम्वत् 1978 की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासन स्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित समयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया? क्या नहीं छोड़ा? भगवान समयसार स्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्यामताग्रह का विष छोड़ा। तभी से लगातार 45 वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अविस्मरणीय प्रभावना हुई, वह आज देश-विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में प्रकाशित होकर, इस पञ्चम काल के अन्त तक भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कुलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान महावीर के जीव मात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार-प्रसार में संलग्न है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन भी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रभावना उदयरूपी वटवृक्ष की एक शाखा है। अत्यन्त अल्पकाल में इस तीर्थधाम ने न मात्र जैन, अपितु जैनेतर समाज के हृदय में भी अपना अमिट प्रभाव स्थापित किया है। सत्य तो यह है कि **तीर्थधाम मङ्गलायतन** पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के तत्त्वज्ञान का प्रभापुञ्ज ही है।

सत्साहित्य का प्रकाशन भी **तीर्थधाम मङ्गलायतन** की कई कल्याणकारी योजनाओं में से एक है। इसी के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ **'ज्ञानचक्षु : भगवान आत्मा'** प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रस्तुत प्रवचनों का गुजराती सङ्कलन ब्रह्मचारी हरिभाई, सोनगढ़ द्वारा किया गया है एवं इनका हिन्दी रूपान्तरण व सम्पादन कार्य श्री देवेन्द्रकुमार जैन (बिजौलियां - राज.) **तीर्थधाम मङ्गलायतन** द्वारा सम्पन्न किया गया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें प्रकाशनकर्ता के रूप में **श्री ढेलाबाई चेरिटेबल ट्रस्ट, महावीर चौक, खैरागढ़, राजनाँदगाँव (छत्तीसगढ़)** का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। तदर्थ हम उनके आभारी हैं।

सभी जीव निज अकारक-अवेदक ज्ञानस्वभाव के आश्रय से अनन्त सुखी हों - इसी भावना के साथ।

पवन जैन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान
दिगम्बर जैन ट्रस्ट

सम्पादकीय

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे॥

कालचक्र के अविरल प्रवाह में हुए अनन्त तीर्थङ्करों की पावन परम्परा में इस कल्पकाल में भगवान आदिनाथ से महावीर तक चौबीस तीर्थङ्कर हुए। उनकी परम्परा में आत्मानुभवी समतारस के पिण्ड अनेक वीतरागी सन्त हुए।

आज से लगभग 2000 वर्ष पहले जैनशासन के स्तम्भसमान भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव हुए, जिन्हें विदेहक्षेत्र में विराजमान भगवान सीमन्धरस्वामी की दिव्यदेशना का रसपान करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। आठ दिन तक विदेहक्षेत्र में वैदेही आत्मस्वरूप की आनन्ददायिनी चर्चा का रसपान करके, करुणामूर्ति आचार्यश्री स्वदेश पधारे और भक्तों को दिये.... पञ्च परमागम।

श्रीसमयसार, श्रीप्रवचनसार, श्रीनियमसार, श्रीपञ्चास्तिकाय, एवं श्रीअष्टपाहुड। इन पञ्च परमागमों में सम्पूर्ण दिव्यध्वनि का सार गूँथकर आचार्यदेव ने पञ्चम काल में तीर्थङ्करवत् कार्य किया है। इस उपकार के लिए भरतक्षेत्र के भव्यजीव आपश्री के चिर ऋणी रहेंगे।

पञ्च परमागमों में से शुद्धात्मा का स्वरूप दर्शानेवाला समयसार -परमागम अद्‌भुत है। जिसे आज से एक हजार वर्ष पूर्व हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव, जगत्‌चक्षु कहते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने आचार्य कुन्दकुन्ददेव कृत प्राभृतत्रय – समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय पर टीका रचकर, इस काल में मानों गणधर जैसा कार्य किया है।

ग्रन्थाधिराज समयसारपरमागम पर, अत्यन्त सरलतम संस्कृतभाषा में लिखी हुई आचार्य जयसेन एवं प्रभाचन्द्राचार्य की टीका भी उल्लेखनीय है। परवर्ती आचार्यों की लेखनी को अध्यात्म की धारा में परिवर्तित करने के लिये, समयसार की महती भूमिका को नकारा नहीं जा सकता।

इसी समयसार परमागम की गाथा 320 की जयसेनाचार्य कृत टीका पर परम पूज्य गुरुदेवश्री ने सर्व प्रथम राजकोट और तत्पश्चात् सोनगढ़ में जो प्रवचन प्रदान किये, उनका सङ्कलित संस्करण ब्रह्मचारी हरिभाई ने ज्ञानचक्षु नाम से किया था, उसी का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत ग्रन्थ है।

इस गाथाा एवं टीका पर पूज्य गुरुदेवश्री ने अनेक बार प्रवचन किये हैं। सच तो यह है कि पूज्य गुरुदेवश्री ने वर्तमान शताब्दी में इस समयसार को जन-जन की वस्तु बनाया है। परमागम समयसार पर 45 वर्षों तक निरन्तर प्रवचन करके, सम्पूर्ण विश्व में समयसारयुग का प्रवर्तन किया है। आज गुरुदेव के प्रताप से आबाल-गोपाल सभी समयसारपरमागम का अध्ययन करने लगे हैं। गाँव-गाँव में समयसार की गोष्ठियाँ एवं जिनमन्दिरों में समयसार की स्थापना हुई है। जिनमन्दिरों की दीवारों पर भी इस परमागम को, उत्कीर्ण कर भौतिकदृष्टि से भी अमर बनाने के उपक्रम हुए हैं और अभी भी निरन्तर जारी हैं।

वर्तमान में पूज्य गुरुदेवश्री, समयसार के पर्यायवाची हैं; उन्होंने विक्रम संवत् 1978 में सर्व प्रथम समयसार प्राप्त करके, अपने को धन्य अनुभव किया और सहज ही उनके अन्त:स्थल से यह उदगार प्रस्फुटित हुए कि **अहो! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है!** और तभी से उनका अन्तर्मन समयसार की गहराईयों में गोते खाने लगा। उन्होंने अपने जीवन में सैकड़ों बार इस ग्रन्थ का पारायण तो किया ही... सभा में सार्वजनिकरूप से 19 बार इस ग्रन्थ पर आद्योपान्त प्रवचन प्रदान किये। सच में गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की अमृतवाणी का सुयोग पाकर, यह परमागम आज जन-जन की आस्था का केन्द्र बन चुका है।

गुरुदेवश्री ने समयसार पाकर क्या नहीं पाया ?.... समयसार पाकर क्या नहीं खोया ?... समयसार पाकर उन्होंने पाया... निज शुद्धात्मा..... समयसार पाकर उन्होंने पाया.... शाश्वत् सुख का स्वानुभूति प्रधान वीतरागीमार्ग.... उन्होंने खोया मिथ्यात्व और मिथ्यात्व से युक्त गुरुपना।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सौराष्ट्र के कोहिनूर माने जानेवाले गुरुदेव ने मात्र समयसार को पाकर इस महान प्रतिष्ठा को तिलांजलि देकर, तीर्थधाम स्वर्णपुरी में एकाकी निवास किया। उनकी पवित्रता और पुण्य के सातिशययोग ने, आज उन्हें जिनशासन का सजग प्रहरी बना दिया है.... वे लाखों लोगों के पथ-प्रदर्शक हैं; उन्होंने अज्ञान अन्धकार से त्रस्त एवं धर्म के नाम पर मिथ्या क्रियाकाण्ड के आडम्बर में डूबे हुए जगत को, शुद्धात्मानुभूति के सुखद वायुमण्डल में, उन्मुक्त जीवन जीने की कला सिखायी है।

ऐसे परम उपकारी जीवनशिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी के हिन्दी अनुवाद का अवसर पाकर मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। सभी साधर्मी बन्धुओं से भी भक्तिपूर्वक इस गुरुवाणी के पारायण का अनुरोध करता हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्ति उत्पन्न कराने में कारणभूत आदरणीय पण्डित कैलाशचन्द जैन, अलीगढ़ के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

सभी जीव गुरुदेवश्री की अमृत वाणी से लाभान्वित हों – ऐसी भावना है।

28 नवम्बर 2010
(पूज्य गुरुदेवश्री का
समाधि-दिवस)

देवेन्द्रकुमार जैन

ॐ

॥ परमात्मने नमः ॥

ज्ञानचक्षु : भगवान आत्मा

समयसार गाथा 320 की जयसेनाचार्यकृत टीका पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचन
(चक्षु के दृष्टान्त से आत्मा के अकारक अवेदक ज्ञानस्वभाव का वर्णन)

श्री समयसार, गाथा 320 पर आचार्य जयसेन की विशिष्ट टीका पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी को अत्यन्त प्रिय थी। उन्होंने इस पर स्वतन्त्ररूप से अनेक बार प्रवचन करके भगवान आत्मा के अकारक-अवेदक ज्ञानस्वभाव को अपनी विशिष्ट अध्यात्मरस भरपूर शैली में स्पष्ट किया है। प्रवचन के प्रारम्भ में ही प्रमोदपूर्वक गुरुदेवश्री कहते हैं कि –

देखो, भाई! आत्मा के स्वभाव की यह बात सूक्ष्म है! सूक्ष्म है परन्तु महाकल्याणकारी है; इसलिए समझने में विशेष ध्यान रखना... परन्तु सूक्ष्म है; इसलिए समझ में नहीं आयेगी – ऐसा मत मान लेना। यह बात मेरे स्वभाव की है और मुझे समझने योग्य ही है। इस प्रकार इसकी महिमा लाकर अन्तरङ्ग प्रयत्न से समझना। जीवों को समझने के लिए ही तो आचार्यदेव ने यह बात की है; इसलिए इसे समझा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है। इस गाथा पर जयसेनाचार्य की टीका, व्याख्यान में पहली बार ही पढ़ी जा रही है। सूक्ष्म लगे तो विशेष लक्ष्य रखकर समझना।

दिट्ठी सयं पि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणदि य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव॥

दृष्टि: यथैव ज्ञानमकारकं तथाऽवेदकं चैव।
जानाति च बन्धमोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव॥

तमेव अकर्तृत्वभोक्तृत्वभावं विशेषेण समर्थयति; [दिट्ठी संय पि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव] यथा दृष्टि: कर्त्री दृश्यमग्निरूपं वस्तुसंधुक्षणं पुरुषवन्न करोति तथैव च तप्ताय: पिंडवदनुभवरूपेण न वेदयति। तथा शुद्धज्ञानमप्यभेदेन शुद्धज्ञानपरिणत जीवो वा स्वयं शुद्धोपादानरूपेण न करोति न

ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान नहिं कारक, नहीं वेदक अहो!
जाने हि कर्मोदय, निरजरा, बन्ध त्यों ही मोक्ष को॥

गाथार्थ - [**यथा एव दृष्टि:**] जैसे, नेत्र (दृश्य पदार्थों को करता-भोगता नहीं है किन्तु देखता ही है); [**तथा**] उसी प्रकार [**ज्ञानम्**] ज्ञान, [**अकारकं**] अकारक [**अवेदकं च एव**] तथा अवेदक है [**च**] और [**बन्धमोक्षं**] बन्ध, मोक्ष, [**कर्मोदयं**] कर्मोदय [**निर्जरां च एव**] तथा निर्जरा को [**जानाति**] जानता ही है।

उसी अकृर्तत्वभोक्तृत्वभाव को विशेषरूप से दृढ़ करते हैं -

[दिट्ठी सयं पि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव] जिस प्रकार नेत्रकर्ता, दृश्यवस्तु को, संधुक्षण करनेवाला (अग्नि सुलगानेवाला) पुरुष अग्निरूप वस्तु को करता है उस प्रकार, करता नहीं है, और तपे हुए लौहपिण्ड की भाँति अनुभवरूप से वेदता नहीं है; उस प्रकार शुद्धज्ञान भी अथवा अभेद से शुद्धज्ञान, परिणत जीव

च वेदयति। अथवा पाठांतरं [दिट्ठी खयंपि णाणं] तस्य व्याख्यानं - न केवलं दृष्टिः क्षायिक-ज्ञानमपि निश्चयेन कर्मणामकारक तथैवावेदकमपि। तथाभूतः सन् किं करोति ? [जाणदि य बंधमोक्खं] जानाति च। कौ ? बंधमोक्षौ। न केवलं बंधमोक्षौ [कम्मुदयं णिज्जरं चेव] शुभाशुभरूपं कर्मोदयं सविपाकाविपाकरूपेण सकामाकामरूपेण वि द्विधा निर्जरां चैव जानाति इति।

एवं सर्वविशुद्धिपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादान -भूतेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्व-भोक्तृत्व-बंधमोक्षादिकारण -परिणाम-शून्यो जीव इति सूचितं। समुदाय-पातनिकायां पश्चाद्गाथाचतुष्टयेन जीवस्याकर्तृत्वगुण-व्याख्यानमुख्यत्वेन

भी, स्वयं शुद्ध-उपादानरूप से करता नहीं है और वेदता नहीं है अथवा पाठान्तर : 'दिट्ठी खयं पि णाणं' उसका व्याख्यान - मात्र दृष्टि ही नहीं, परन्तु क्षायिकज्ञान भी निश्चय से कर्मों का अकारक तथा अवेदक भी है। वैसा होता हुआ (शुद्धज्ञानपरिणत जीव) क्या करता है ? [जाणदि य बंधमोक्खं] जानता है। किसको ? बन्ध-मोक्ष को। मात्र बन्ध-मोक्ष को नहीं, [कम्मुदयं णिज्जरं चेव] शुभ-अशुभरूप कर्मोदय को तथा सविपाक-अविपाकरूप से और सकाम-अकामरूप से दो प्रकार की निर्जरा भी जानता है।

सर्वविशुद्ध-पारिणामिक-परमभावग्राहक शुद्ध-उपादानभूत शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव, कर्तृत्व-भोक्तृत्व से तथा बन्ध-मोक्ष के कारण और परिणाम से शून्य है, ऐसा समुदायपातनिका में कहा गया था। पश्चात् चार गाथाओं द्वारा जीव का अकर्तृत्वगुण के व्याख्यान की मुख्यता से सामान्य विवरण किया गया। तत्पश्चात्

सामान्यविवरणं कृतं। पुनरपि गाथाचतुष्टयेन शुद्धस्यापि यत्प्रकृतिभिर्बंधो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमित्यज्ञानसामर्थ्य -कथनरूपेण विशेषविवरणं कृतं। पुनश्च गाथाचतुष्टयेन जीवस्याभोक्तृत्वगुणव्याख्यान-मुख्यत्वेन व्याख्यानं कृतं। तदनन्तरं शुद्धनिश्चयेन तस्यैव कर्तृत्वबंधमोक्षादिककारण-परिणामवर्जनरूपस्य द्वादश-गाथाव्याख्यानस्योपसंहाररूपेण गाथाद्वयं गतं॥ इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ मोक्षाधिकार-संबंधिनी चूलिका समाप्ता। अथवा द्वितीय-व्याख्यानेनात्र मोक्षाधिकार समाप्तः।

किं च विशेषः - औपशमिकादिपंचभावानां मध्ये केन

चार गाथाओं द्वारा 'शुद्ध को भी जो प्रकृति के साथ बन्ध होता है, वह अज्ञान का माहात्म्य है' - ऐसा अज्ञान का सामर्थ्य कहनेरूप विशेष विवरण किया गया। तत्पश्चात् चार गाथाओं द्वारा जीव का अभोक्तृत्वगुण के व्याख्यान की मुख्यता से व्याख्यान किया गया। तत्पश्चात् दो गाथाएँ कही गईं, जिनके द्वारा पहले बारह गाथाओं में शुद्धनिश्चय से कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अभावरूप तथा बन्ध-मोक्ष के कारण एवं परिणाम के अभावरूप जो व्याख्यान किया गया था, उसी का उपसंहार किया गया। इस प्रकार समयसार की शुद्धात्मानुभूतिलक्षण 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की टीका में मोक्षाधिकार सम्बन्धी चूलिका समाप्त हुई अथवा अन्य प्रकार से व्याख्यान करने पर, यहाँ मोक्षाधिकार समाप्त हुआ।

फिर विशेष कहा जाता है -

भावेन मोक्षो भवतीति विचार्यते। तत्रौपशमिक-क्षायोपशमिकक्षायिकौदयिकभावचतुष्टयं पर्यायरूपं भवति, शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूप इति। तच्च परस्परसापेक्षं द्रव्यपर्यायद्वयात्मा पदार्थो भण्यते।

तत्र तावज्जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वत्रिविधपरिणामिक-भावमध्ये शुद्धजीवत्व शक्तिलक्षणं यत्पारिणामिकत्वं, तच्छुद्धद्रव्यार्थिक-नयाश्रितत्वान्निरावरणं शुद्धपारिणामिक-भावसंज्ञं ज्ञातव्यं तत्तु बंधमोक्ष-पर्यायपरिणतिरहितं। यत्पुनर्दशप्राणरूपं जीवत्वं भव्याभव्यत्वद्वयं तत्पर्यायार्थिक-नयाश्रितत्वादशुद्धपारिणामिकभावसंज्ञमिति। कथम-शुद्धमिति

औपशमिकादि पाँच भावों में किस भाव से मोक्ष होता है, वह विचारते हैं।

वहाँ औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक तथा औदयिक – ये चार भाव, पर्यायरूप हैं और शुद्धपारिणामिक (भाव), द्रव्यरूप है। वह परस्पर सापेक्ष, ऐसा द्रव्यपर्यायद्वय (द्रव्य और पर्याय का युगल) सो आत्मा-पदार्थ है।

वहाँ, प्रथम तो जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व – ऐसे तीन प्रकार के पारिणामिकभावों में, शुद्धजीवत्व – ऐसा जो शक्तिलक्षण पारिणामिकपना, वह शुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रित होने से निरावरण और 'शुद्धपारिणामिकभाव' – ऐसी संज्ञावाला जानना; वह तो बन्धमोक्ष-पर्यायपरिणतिरहित है परन्तु जो दस-प्राणरूप जीवत्व और भव्यत्व अभव्यत्वद्वय, वे पर्यायार्थिकनयाश्रित होने से 'अशुद्ध-पारिणामिकभाव' संज्ञावाले हैं। **प्रश्न** – 'अशुद्ध' क्यों? **उत्तर**

चेत्, संसारिणां शुद्धनयेन सिद्धानां तु सर्वथैव दशप्राणरूप जीवत्व भव्याभव्यत्वद्वयाभावादिति।

तत्र त्रयस्य मध्ये भव्यत्वलक्षणपारिणामिकस्यतु यथासंभवं सम्यक्त्वादिजीवगुणघातकं देशघातिसर्वघातिसंज्ञं मोहादिकर्म -सामान्यं पर्यायार्थिकनयेन प्रच्छादकं भवति इति विज्ञेयं। तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तर्व्यक्ति-भवति तदायं जीवः सहज-शुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्य -सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायेण परिणमति। तच्च परिणमन -मागमभाषयौपशमिकक्षायो-पशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभि-मुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते।

– संसारियों को शुद्धनय से और सिद्धों को तो सर्वथा ही दस -प्राणरूप जीवत्व का तथा भव्यत्व-अभव्यत्वद्वय का अभाव होने से।

उन तीनों में, भव्यत्वलक्षण पारिणामिक को तो यथासम्भव सम्यक्त्वादि जीवगुणों का घातक 'देशघाती' और 'सर्वघाती' – ऐसे नामोंवाला मोहादिकर्मसामान्य पर्यायार्थिकनय से ढँकता है, ऐसा जानना। वहाँ जब कालादि लब्धि के वश, भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति होती है तब यह जीव, सहज-शुद्ध-पारिणामिकभावलक्षण निज-परमात्मद्रव्य के, सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप पर्याय से परिणमता है; वह परिणमन आगमभाषा से 'औपशमिक', 'क्षायोपशमिक' तथा 'क्षायिक' – ऐसे भावत्रय कहा जाता है, और अध्यात्मभाषा से 'शुद्धात्माभिमुख परिणाम', 'शुद्धोपयोग' इत्यादि पर्यायसंज्ञा पाता है।

स च पर्यायः शुद्धपारिणामिकभावलक्षणशुद्धात्मद्रव्यात्कथं -चिद्भिन्नः। कस्मात् भावनारूपत्वात्। शुद्धपारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति। यद्येकांतेन शुद्धपारिणामिकादभिन्नो भवति तदास्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुद्धपारिणामिकभावस्यापि विनाशः प्राप्नोति; न च तथा।

ततः स्थितं - शुद्धपारिणामिकभावविषये या भावना तद्रूपं यदौपशमिकादिभावत्रयं तत्समस्तरागादिरहितत्वेन शुद्धोपादान-कारणत्वात् मोक्षकारणं भवति, न च शुद्धपारिणामिकः।

यस्तु शक्तिरूपो मोक्षः स शुद्धपारिणामिकपूर्वमेव तिष्ठति।

वह पर्याय, शुद्धपारिणामिकभावलक्षण शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है। किसलिए? भावनारूप होने से। शुद्धपारिणामिक (भाव) तो भावनारूप नहीं है। यदि (वह पर्याय) एकान्तरूप से शुद्ध-पारिणामिक से अभिन्न हो, तो मोक्ष का प्रसंग आने पर इस भावनारूप मोक्षकारणभूत (पर्याय) का विनाश होने से शुद्धपारिणामिकभाव भी विनाश को प्राप्त हो, परन्तु ऐसा तो होता नहीं है (क्योंकि शुद्धपारिणामिकभाव तो अविनाशी है)।

इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ - शुद्धपारिणामिकभावविषयक (शुद्धपारिणामिकभाव का अवलम्बन लेनेवाली) जो भावना, उस रूप जो औपशमिकादि तीन भाव वे समस्त रागादि से रहित होने के कारण शुद्ध-उपादानकारणभूत होने से मोक्षकारण (मोक्ष के कारण) हैं परन्तु शुद्धपारिणामिक नहीं (अर्थात्, शुद्धपारिणामिक-भाव, मोक्ष का कारण नहीं है)।

अयं तु व्यक्तिरूप मोक्षविचारो वर्तते।

तथा चोक्त सिद्धान्ते - 'निष्क्रिय: शुद्धपारिणामिक:' निष्क्रिय इति कोऽर्थ: ? बंधकारणभूता या क्रिया रागादि-परिणति: तद्रूपो न भवति, मोक्षकारणभूता च क्रिया शुद्धभावना -परिणतिस्तद्रूपश्च न भवति। ततो ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति। कस्मात्? ध्यानस्य विनश्वरत्वात्। तथा योगीन्द्रदेवैप्युक्तं - णवि उपज्जइ णवि मरइ बंध ण मोक्खु करेइ। जिउ परमत्थे जोइया जिणवर एउ भणेइ॥

जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो शुद्धपारिणामिक है, प्रथम से ही विद्यमान है। यह तो व्यक्तिरूप मोक्ष का विचार चल रहा है।

इसी प्रकार सिद्धान्त में कहा है कि - 'निष्क्रिय: शुद्धपारिणामिक:' अर्थात्, शुद्धपारिणामिक (भाव) निष्क्रिय है। निष्क्रिय का क्या अर्थ है? (शुद्धपारिणामिकभाव) बन्ध के कारणभूत जो क्रिया-रागादिपरिणति, उसरूप नहीं है और मोक्ष के कारणभूत जो क्रिया-शुद्धभावनापरिणति, उसरूप भी नहीं है; इसलिए ऐसा जाना जाता है कि शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप है, ध्यानरूप नहीं है। किसलिए? क्योंकि ध्यान विनश्वर है (और शुद्धपारिणामिकभाव तो अविनाशी है)। श्री योगीन्द्रदेव ने भी कहा है कि - 'ण वि उपज्जइ ण वि मरइ बन्धु ण मोक्खु करेइ। जिउ परमथे जोइया जिणवर एउ भणेइ॥' (अर्थात्, हे योगी! परमार्थ से जीव, उपजता भी नहीं है, मरता भी नहीं है और बन्ध-मोक्ष नहीं करता - ऐसा श्री जिनवर कहते हैं।)

किंच विवक्षितैकदेशशुद्धनयाश्रितेयं भावना निर्विकार-स्वसंवेदनलक्षणक्षायोपशमिकत्वेन यद्यप्येकदेश-व्यक्तिरूपा भवति तथापि ध्यातापुरुषः यदेव सकल निरावरणमखंडैक -प्रत्यक्षप्रतिभासमयम-विनश्वरंशुद्ध-पारिणामिकपरमभाव -लक्षणं निजपरमात्मद्रव्यं तदेवाहमिति भावयति, न च खंडज्ञानरूपमिति भावार्थः।

इदं तु व्याख्यानं परस्परसापेक्षागमाध्यात्मनद्व्याभि-प्रायस्या-निरोधेनैव कथितं सिद्ध्यतीति ज्ञातव्यं विवेकिभिः॥ 320॥

फिर वह स्पष्ट किया जाता है – विवक्षित-एकदेशशुद्धनयाश्रित यह भावना (अर्थात्, जिसे कहना चाहते हैं, ऐसी आंशिक शुद्धिरूप यह परिणति) निर्विकार-स्वसंवेदनलक्षण क्षायोपशमिकज्ञानरूप होने से, यद्यपि एकदेश व्यक्तिरूप है तथा ध्याता पुरुष ऐसा भाता है कि 'जो सकलनिरावरण-अखण्ड-एक-प्रत्यक्षप्रतिभासमय -अविनश्वर-शुद्ध-पारिणामिकपरमभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य, वही मैं हूँ', परन्तु ऐसा नहीं भाता कि 'खण्डज्ञानरूप मैं हूँ।' - ऐसा भावार्थ है।

यह व्याख्यान, परस्पर सापेक्ष ऐसे आगम-अध्यात्म के तथा नयद्वय के (द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय के) अभिप्राय के अविरोधपूर्वक ही कहा गया होने से सिद्ध है (निर्बाध है), ऐसा विवेकी जानें।

प्रवचन

जैसे, नेत्र (दृश्य पदार्थों को करता-भोगता नहीं है किन्तु देखता ही है), उसी प्रकार ज्ञान, अकारक तथा अवेदक है और बन्ध, मोक्ष, कर्मोदय, तथा निर्जरा को जानता ही है।

यहाँ ज्ञायकस्वभावी आत्मा, पर का और रागादिक का अकर्ता-अभोक्ता है, यह बात समझाते हैं। ज्ञानस्वभावी आत्मा है, वह अपने ज्ञाताभाव से भिन्न, अन्य भावों का कर्ता-भोक्ता नहीं है; शरीर, मन, वाणी, कर्म इत्यादि जड़ पदार्थों को तो आत्मा कभी नहीं करता और उन्हें भोक्ता भी नहीं है। उन्हें मैं कर्ता हूँ-मैं भोक्ता हूँ - ऐसा अज्ञान से ही जीव मानता है परन्तु उन्हें कर्ता या भोक्ता नहीं है। पुण्य-पाप जो कि आत्मा का स्वरूप नहीं है, उसे भी ज्ञानभाव से आत्मा, कर्ता या भोक्ता नहीं है; मात्र जानता ही है। सर्वविशुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा, अपने से भिन्न भावों का करने या भोगनेवाला नहीं है, उनरूप होनेवाला नहीं है। कर्मों की बन्ध-मोक्षरूप अवस्था का कर्ता आत्मा नहीं है; आत्मा तो ज्ञाताभावमात्र है। उसका ज्ञान, परपदार्थों को तो कर्ता-वेदता नहीं है और व्यवहार सम्बन्धी रागादि विकल्पों को भी कर्ता-भोक्ता नहीं है। ऐसे सहज ज्ञानस्वरूप आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में लेना, वह धर्म है। ऐसे आनन्दमूर्ति आत्मा के ज्ञानस्वभाव में अकर्ता-अभोक्तापना किस प्रकार से है ? - वह यहाँ विशेष समझायेंगे तथा उसके उपशम आदि पाँच भावों में से, मोक्ष के कारणरूप भाव कौन से हैं ? यह भी समझायेंगे।

जीव, अज्ञान के कारण चार गति में परिभ्रमण करके दुःखी हो

रहा है। उस दु:ख से छुटकारा कैसे हो और परमसुख का अनुभव कैसे प्रगट हो? अपना सत्यस्वभाव जाने-अनुभव करे तो सुख प्रगट होकर, दु:ख से मुक्ति हो। रागादि भावों को तथा देहादि पर के कार्यों को अपना मानकर और अपने ज्ञानस्वरूप को भूलकर भ्रम से जीव, चार गति में परिभ्रमण कर रहा है; उससे छूटने के लिये ज्ञानस्वभावी आत्मा जैसा है, वैसा जानना चाहिए। इसके लिए वीतरागी सन्तों ने अलौकिकरूप से उसका स्वरूप समझाया है।

आत्मा का स्वरूप ऐसा नहीं है कि देहादि की क्रिया को अथवा कर्म के उदयादि को करे; ज्ञानस्वरूप आत्मा विशुद्ध ज्ञानभावमात्र है, उसका ज्ञान परज्ञेयों को कर्ता या भोक्ता नहीं है। आँख का दृष्टान्त देकर आचार्यदेव इस बात को समझाते हैं।

ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान नहिं कारक, नहीं वेदक अहो!
जाने हि कर्मोदय, निरजरा, बन्ध त्यों ही मोक्ष को॥

जैसे – नेत्र, अर्थात् आँख, वह अग्नि को देखती है परन्तु उसे करती नहीं है और वह अग्नि को वेदती भी नहीं है; इसी प्रकार ज्ञान भी आँख की तरह, कर्म को अथवा रागादि को जानता ही है परन्तु उन्हें कर्ता या वेदता नहीं है। ज्ञान में विकार का या जड़ का वेदन नहीं है।

दर्शन और ज्ञान, वे भगवान आत्मा के चक्षु हैं; वे दर्शन-ज्ञान चक्षु, शरीर को अथवा रागादि विकल्पों को नहीं करते हैं। जैसे, आँख से अग्नि नहीं सुलगती; उसी प्रकार ज्ञानभाव से पर के अथवा राग के कार्य नहीं होते। जिस प्रकार संधूकड़, अर्थात् ईंधन अग्नि का कर्ता है और अग्नि से तप्त लोहखण्ड का गोला, उस

अग्नि की उष्णता का वेदक है; इस प्रकार उन्हें अग्नि का कर्ता –भोक्तापना है परन्तु उन दोनों को देखनेवाली दृष्टि, अर्थात् आँख तो अग्नि को करती या भोगती नहीं है। यदि आँख, अग्नि को भोगे तो स्वयं जल जाएगी। इसी प्रकार शुद्धज्ञान भी रागादिभावों को अथवा कर्म की बन्ध–मुक्त अवस्था को कर्ता या भोक्ता नहीं है; इसलिए वह अकर्ता और अभोक्ता है।

यदि आँख, अग्नि को करे तो वह स्वयं अग्निरूप होकर जल जाएगी। इसी प्रकार यदि ज्ञानचक्षु, रागादि कषायअग्नि को करे तो वह ज्ञान, स्वयं ही राग हो जाएगा, परन्तु शुद्धज्ञान तो ज्ञान ही है; उसमें रागादि का कर्ता–भोक्तापना नहीं है।

यहाँ जैसे 'शुद्धज्ञान' को अकर्ता और अभोक्ता कहा है; उसी प्रकार अभेददृष्टि से कहें तो 'शुद्धज्ञानपरिणतिरूप से परिणमित जीव' भी रागादि का अकर्ता और अभोक्ता है; वह स्वयं शुद्ध उपादानरूप से उन्हें कर्ता–भोक्ता नहीं है। शुद्धज्ञानपरिणत धर्मी जीव, कर्म का अथवा विकार का कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है; उनमें तन्मय होकर उसरूप परिणमित नहीं होता, अपितु दृष्टि की तरह मात्र ज्ञाता ही रहता है। ऐसे ज्ञानभावरूप परिणमन, वह धर्म है। शुद्धजीव, शुद्धउपादानरूप होकर अशुद्ध रागादि व्यवहारभावों को नहीं करता। शुद्धज्ञानरूप परिणमित ज्ञानी जीव, अशुद्धभाव में तन्मय नहीं होता, अर्थात् उन्हें कर्ता या भोक्ता नहीं है। इस प्रकार अकर्ता–अभोक्ता शुद्धस्वरूप समझने पर आत्मा को धर्म होता है। ऐसा स्वरूप समझकर, अपने ज्ञाता–दृष्टास्वभाव के सन्मुख होकर, रागादि के अकर्ता–अभोक्तारूप परिणमित होना, वह वीतरागदेव द्वारा कथित मोक्षमार्ग है।

अहो! ज्ञाता-दृष्टास्वभावरूपी आँख में राग के कर्तृत्वरूपी अग्नि का कण नहीं समा सकता। क्या आँख में तिनका समायेगा? नहीं समायेगा। शुभ-अशुभराग तो आग के समान है, वह ज्ञानचक्षु में कैसे समायेंगे? ज्ञानचक्षु उन्हें कैसे करेगी और उन्हें कैसे भोगेगी? वह तो उनसे भिन्न रहकर, मात्र उन्हें जानती है।

जैसे, संधूकण से अग्नि जलाने की क्रिया आँख नहीं करती; आँख तो उसे जानती ही है; उसी प्रकार ज्ञेय पदार्थों की क्रिया तो आत्मा नहीं करता है, वह तो उन्हें जानता ही है। पुण्य-पाप भी ज्ञान का ज्ञेय है, ज्ञान उन्हें जानता ही है परन्तु उन्हें कर्ता नहीं है। यदि ज्ञान, स्वयं पुण्य-पाप को करे तो ज्ञान स्वयं पुण्य-पाप हो जाएगा; पृथक् नहीं रहेगा। जैसे, अग्नि को आँख स्वयं सुलगाये तो आँख भी सुलग जाएगी। जैसे, ज्ञानस्वभावी आत्मा पर का और रागादि का कर्ता नहीं है; उसी प्रकार वह उनका भोक्ता भी नहीं है - ऐसा उसका स्वभाव है। ऐसे आत्मस्वभाव को श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में लेना, वह मोक्ष का कारण है।

यह बाहर की आँख दिखती है, वह तो पुद्गल की रचना है; आत्मा तो ज्ञाननेत्रवाला है। जैसे, नेत्र अपने से बाह्य वस्तुओं को आगे-पीछे नहीं करता; उसी प्रकार जगत् का दृष्टा आत्मा, दृश्य पदार्थों में किसी को आगे-पीछे नहीं करता; स्वयं अपने में रहकर विश्व को देखता ही है। राग भी ज्ञान से भिन्न वस्तु है, दोनों का स्वरूप पृथक् है। यदि पृथक् न हो तो ज्ञान की तरह राग के बिना भी आत्मा जीवित नहीं रह सकेगा, परन्तु सिद्ध भगवान तो सदा ही राग के बिना ही चैतन्यप्राण से जीवित हैं। इसलिए राग और ज्ञान

एक वस्तु नहीं है। इस कारण राग का कार्य, ज्ञान में नहीं है; ज्ञान, राग का कर्ता नहीं है।

अहो! यह तो भेदज्ञान करके आत्मा का स्वभाव बताते हैं। भाई! तुझे अपने आत्मा को इस भवभ्रमण से छुड़ाने की विधि, सन्त समझाते हैं। तेरे चैतन्यस्वरूप को भूलकर, पर के कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि से तू अनन्त काल दु:खी हुआ है। अब उससे छूटने के लिये यह तेरे सच्चे स्वरूप की बात है। यह अपना स्वरूप है, इसलिए सूझ पड़े / समझ में आवे ऐसा है। अभ्यास नहीं होने से कठिन लगता है परन्तु रुचिपूर्वक प्रयत्न करने पर, सब समझ में आ सकता है। अपना स्वरूप अपने को क्यों नहीं समझ में आयेगा?

तेरा आत्मा कैसा है? शान्त, शीतल, अकषायस्वरूप, ज्ञातादृष्टा आत्मा है। शान्तरस से भरपूर ज्ञान, वह कषायों का अकर्ता, अभोक्ता ही है। आत्मा का द्रव्यस्वभाव तो त्रिकाल ऐसा है ही और उसका भान होने पर जो शुद्धज्ञानपर्याय प्रगट होकर, आत्मा के साथ अभेद हुई, उस पर्याय में भी रागादि का कर्ता-भोक्तापना नहीं है। राग की शुभवृत्ति उत्पन्न हो, उसका कर्ता-भोक्तापना भी ज्ञानी के ज्ञान में नहीं है क्योंकि उस शुभवृत्ति के साथ उसका ज्ञान, एकमेक नहीं होता है किन्तु पृथक् ही परिणमता है।

अरे! राग तो ज्ञान से विरुद्ध भाव है; राग में तो आकुलतारूप अग्नि है और ज्ञान तो शान्तरस से सराबोर है। ज्ञान से विरुद्ध ऐसे राग से मोक्षमार्ग होना मानना तो दुश्मन से लाभ होना मानने जैसा है। भाई! राग में ज्ञान कभी तन्मय नहीं होता तो वह ज्ञान, राग का साधन कैसे होगा और राग को वह अपना साधन कैसे बनायेगा?

अहो! अरहन्तों का मार्ग अपूर्व है, उसमें राग की अपेक्षा ही कहाँ है? अकेला अन्तरस्वभाव का मार्ग... अन्य सबसे निरपेक्ष है।

ईंधन सुलगकर अग्नि होती है, वहाँ आँख उसे करती नहीं है; आँख तो देखती ही है। अग्नि की विशाल लौ को देखकर आँख गर्म नहीं हो जाती। यहाँ बाहर की आँख का दृष्टान्त देकर, अन्तर का ज्ञानस्वभाव समझाना है। सिद्धान्त समझानें के लिए दृष्टान्त कहा जाता है परन्तु दृष्टान्त को ही पकड़कर अटक जाए तो अकेले दृष्टान्त में से कुछ पार पड़े, ऐसा नहीं है। अन्तर की वस्तु को लक्ष्य में लेने से ही सच्चा ख्याल आता है। यों तो जगत् में कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य की क्रिया नहीं करता, परन्तु यहाँ तो अभी आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की बात समझाना है।

जिस प्रकार आँख, बाहर के पदार्थों से दूर रहकर देखती है परन्तु उन्हें करती नहीं है; उसी प्रकार आत्मा के ज्ञानस्वभाव से राग दूर है – भिन्न है – अन्य है; वह राग को या शरीरादि की क्रिया को करे – ऐसा आत्मा के ज्ञान में नहीं है। अज्ञान में रागादि का कर्तृत्व है परन्तु पर का कर्तृत्व तो अज्ञान में भी नहीं है। अज्ञानी मिथ्याबुद्धि से पर का कर्तृत्व मानता है परन्तु बापू! आँख की तरह ज्ञान, जगत् को जानता अवश्य है किन्तु जगत् के काम नहीं करता। जिस प्रकार आँख से अग्नि नहीं जलायी जा सकती; उसी प्रकार आत्मा से जगत् के काम नहीं हो सकते।

जगत् के समस्त पदार्थ, स्वतन्त्र अपनी-अपनी शक्तिरूप ऐश्वर्यवाले ईश्वर हैं, वे स्वयं अपने काम करनेवाले हैं; उनके अधिकार में बीच में कोई भ्रम से उनका ईश्वर होने जाए, अर्थात्

उनका कर्ता होना माने तो उस मिथ्यात्वरूप भ्रम से वह स्वयं दु:खी होता है। अज्ञानी अपने में भ्रम भले ही करे, तथापि पर के काम तो वह भी नहीं कर सकता। अरे, तू ज्ञान! ज्ञान में तो जड़ का अथवा राग का कार्य कैसे होगा? यहाँ तो अभी जीव में भी उसके पाँच भावों का सूक्ष्म स्वरूप समझायेंगे और उसमें से मोक्ष का कारण कौन सा भाव है, यह बतलायेंगे।

भाई! अपने ऐसे सत् स्वरूप को तू जान! तेरा सत् स्वरूप तो ज्ञानमय है; राग में कहीं तेरा सत्पना नहीं है। राग से लाभ मानने जाएगा तो तेरे सत् में ठगा जाएगा। तेरे सत् में तो ज्ञान-आनन्द भरा है। तेरी सत्ता जाननेरूप ज्ञानभाव में है। तेरा आत्मा, अनन्त गुणों से अभेद है। वह जहाँ गुणभेद के विकल्प से भी अनुभव में नहीं आता, वहाँ रागादि का कर्ता-भोक्तापन उसके अनुभव में कैसा? शीतल बर्फ की शिलासमान जो शीतल चैतन्यशिला, उसमें से रागादि-विकल्पोंरूपी अग्नि कैसे निकलेगी? जिसमें जो तन्मय होता है, उसे ही वह कर अथवा भोग सकता है परन्तु जो जिससे भिन्न होता है, वह उसे कर या भोग नहीं सकता। ज्ञान के अतिरिक्त दूसरे भाव को करे या वेदन करे, वह सच्चा आत्मा नहीं है। रागादि परभावों का कर्तृत्व देखनेवाले को सच्चा आत्मा नहीं दिखता।

द्रव्यस्वभाव में राग-द्वेषादि नहीं हैं; इसलिए उस स्वभाव को देखनेवाली ज्ञानदृष्टि में भी राग-द्वेष का कर्ता-भोक्तापना नहीं है। राग-द्वेष की उत्पत्ति, ज्ञान में से नहीं होती। राग और ज्ञान, त्रिकाल भिन्न हैं - ऐसा अपूर्व भेदज्ञान, वह आनन्द से भरपूर है और वही जन्म-मरण के अन्त का उपाय है।

भाई ! तू ज्ञान है; तेरा ज्ञानस्वभाव कैसा है ? – उसे तू पहचान। 'सर्वविशुद्धज्ञान', अर्थात् रागादिरहित शुद्धज्ञान। उसका स्वरूप समझाते हुए आचार्यदेव ने कहा कि आत्मा, जब तक राग और ज्ञान का भेदज्ञान नहीं करता और अज्ञानभाव से कर्म तथा कर्मफल के कर्ता–भोक्तापन में तल्लीन वर्तता है, वहाँ तक वह मिथ्यादृष्टि –संसारी है और जब भेदज्ञान करके ज्ञायक–दर्शकभावरूप से परिणमित होता है, तब वह मुक्त है; वह कर्म को अथवा उसके फल को कर्ता–भोक्ता नहीं है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना, इन दोनों से रहित अपनी ज्ञानचेतनारूप से परिणमित होता है। ज्ञानचेतना कहो या सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र कहो, एक ही है। उसरूप से जो जीव परिणमित हुआ है, वह मुक्त ही है। अज्ञान में परभावों का कर्ता–भोक्तापना था; ज्ञान में उसका अभाव है।

आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा जानकर, हे जीवों! हे आत्मबुद्धिवाले प्रवीण पुरुषों! तुम अज्ञानीपन को छोड़ो और एक शुद्ध आत्मामय ज्ञानतेज में ही निश्चल होकर, ज्ञानीपन का सेवन करो।

ज्ञानी की ज्ञानचेतना का स्वरूप कोई अद्भुत है। वह कर्मचेतना से रहित होने से अकर्ता है और कर्मफलचेतना से रहित होने से अभोक्ता है। इस प्रकार ज्ञानचेतनावन्त ज्ञानी, कर्म को कर्ता या भोक्ता नहीं है। अकेली ज्ञानचेतनामय होने से वह केवल ज्ञाता ही है। इसलिए शुभ–अशुभ कर्मबन्ध को तथा कर्मफल को केवल जानता ही है। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव में ही निश्चल होने से '**स हि मुक्त एव**'।

इस प्रकार ज्ञानी की ज्ञानचेतना में कर्म का अकर्तापन और अवेदकपन बतलाकर, इस 320 वीं गाथा में यह बात दृष्टान्तपूर्वक समझाते हैं।

ज्ञान का स्वरूप समझाने के लिए आचार्यदेव ने दृष्टि का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार दृष्टि अर्थात् आँख, बाह्य पदार्थों को करती-भोगती नहीं है; जैसे, अग्नि के संसर्ग में रहनेवाला लोहखण्ड का गोला, स्वयं ऊष्ण होकर अग्नि की उष्णता का अनुभव करता है, अर्थात् स्वयं ऊष्ण होता है परन्तु उसे देखनेवाली दृष्टि / आँख कहीं गर्म नहीं होती, क्योंकि उसे अग्नि के साथ संसर्ग नहीं है, एकता नहीं है। यह सबको दृष्टिगत हो, ऐसा दृष्टान्त है। इसी प्रकार आँख की तरह शुद्धज्ञान भी कहीं परद्रव्य को अथवा रागादि को भोगता नहीं है। वह ज्ञान, राग के संसर्गरहित है। शुद्धज्ञान, अर्थात् अभेदनय से उस शुद्धज्ञानपरिणतिरूप से परिणमित जीव, वह जाननेवाला ही है; कर्म का कर्ता-भोक्ता नहीं है। जहाँ कर्मों का कर्ता-भोक्ता नहीं है, वहाँ उसे बन्धन भी कहाँ से होगा? इसलिए वह मुक्त ही है - **स हि मुक्त एव**।

जिस प्रकार आँख, पर से पृथक् है; उसी प्रकार ज्ञान, पर से पृथक् है। जैसे आँख, वैसे ही ज्ञान पर को देखता है परन्तु उसे करता या भोगता नहीं है। पदार्थ को देखनेवाली आँख, उसे दूर या समीप नहीं करती। स्वर्ण दिखे, इसलिए उसे समीप लाना या कोयला दिखे, इसलिए उसे दूर करना, यह आँख का कार्य नहीं है; आँख का कार्य तो दोनों को देखना ही है। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञानचक्षु, परद्रव्य को प्राप्त नहीं करता, छोड़ता नहीं है; मात्र जानता

है। अमुक वस्तु को देखने पर ज्ञान, प्रसन्न / रागी होवे और अमुक वस्तु को देखने पर ज्ञान, नाराज / द्वेषी होवे – ऐसा ज्ञान में नहीं है। इसलिए वह राग-द्वेष का कर्ता नहीं है तथा उसके फल का भोक्ता भी नहीं है। ऐसा शुद्धज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसे पहचानकर अनुभव करना, वह धर्म है।

अहो! अपना ज्ञानचक्षु कैसा है? इसकी भी जीव को खबर नहीं है। भाई! परवस्तु तो तेरे ज्ञान से बाहर है, उसे कहीं ज्ञान प्राप्त नहीं करता। जिस प्रकार आँख, किसी बाह्य के पदार्थों को देखकर उनमें अपने को घुसा नहीं देती है; उसी प्रकार बाह्य के ज्ञेय पदार्थों को जाननेवाला ज्ञान, कहीं उन पदार्थों में अपने को घुसा नहीं देता। पदार्थ, ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते; ज्ञान से बाहर पृथक् ही रहते हैं। ज्ञान के अनुभव में तो आनन्द इत्यादि अपने अनन्त गुणों का रस समाहित है परन्तु परद्रव्य अथवा राग उसमें समाहित नहीं है। इस गाथा में भगवान आत्मा का ऐसा ज्ञानस्वरूप समझाया है।

जिस प्रकार आँख है, वह शरीर की शोभा है; इसी प्रकार भगवान आत्मा की शोभा चैतन्य आँख से है। चैतन्यचक्षु है, वही आत्मा की आँख है; उस आँख से आत्मा, कभी रागादि को कर्ता -भोक्ता नहीं है। कर्म को बाँधने-छोड़ने का उसका स्वभाव नहीं है – ऐसी शुद्ध ज्ञानपर्यायरूप से परिणमित सम्यग्दृष्टि आत्मा, भले ही चौथे गुणस्थान हो तो भी, रागादिक का या देह-मन-वाणी की किसी क्रिया का कर्ता नहीं है। आत्मा तो अपनी ज्ञानचेतना के साथ अभेद होकर परिणमित हुआ, वहाँ कर्मचेतना का कर्तृत्व कहाँ रहेगा? सम्यग्दृष्टि, ज्ञानचेतनारूप ही परिणमित होता है,

रागादिक को जाने भले ही, परन्तु उसरूप होकर – तन्मय होकर परिणमित नहीं होता और तन्मय नहीं होता; इसलिए उसका कर्ता –भोक्ता नहीं है – ऐसी ज्ञानचेतनारूप चक्षु से जीव शोभित होता है।

जगत् के जड़–चेतन पदार्थ, स्वतन्त्र ज्ञेय हैं और आत्मा, स्वतन्त्र ज्ञाता है। पदार्थ दृश्य हैं, आत्मा दृष्टा है; इनके मध्य कर्ता–कर्मपने का सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार नदी में पानी का पूर / प्रवाह बहता जाता हो और किनारे पर खड़ा हुआ मनुष्य, स्थिर आँख से उसे देखता हो; वहाँ कहीं वह मनुष्य, प्रवाह में खिंच नहीं जाता। इसी प्रकार परिणमित हो रहे जगत् के पदार्थों को तटस्थरूप से जाननेवाला आत्मा, वह कहीं पर में खिंच नहीं जाता। जगत् के पदार्थों के कार्यों के कर्ता वे पदार्थ स्वयं ही हैं; आत्मा नहीं। यदि मकान, आहार, शरीर इत्यादि पुद्गलमय पदार्थों को आत्मा भोगे तो आत्मा भी पुद्गलमय हो जाएगा। वे पुद्गलमय पदार्थ तो पृथक् हैं और उनकी ओर की वृत्तियाँ भी ज्ञानभाव से पृथक् हैं। ज्ञान, उन वृत्तियों को भी नहीं करता – नहीं भोगता। इस शरीर के एक–एक रजकण को अथवा हाथ–पैर को आत्मा नहीं चलाता, आत्मा उनका दृष्टा / साक्षी है।

जिसकी दृष्टि में अपना ऐसा ज्ञानस्वभावी आत्मा आया है, वह धर्मी जीव, रागादि विभाव का कार्य, ज्ञान को नहीं सौंपता; स्वयं उनका कर्ता नहीं होता। जैसे, आँख को रेत उठाने का काम नहीं सौंपा जाता; इसी प्रकार ज्ञानचक्षु को जगत् के अथवा राग के काम नहीं सौंपे जाते। आत्मा, ज्ञानमूर्ति चैतन्यपिण्ड है, उसका काम तो चैतन्यमय होता है। अज्ञानी जीव, भ्रम से चैतन्यभगवान को भी जड़ का / शरीर का कर्ता–भोक्ता मानते हैं परन्तु इससे कहीं

वह उन्हें कर या भोग तो नहीं सकता; उसे विपरीत मान्यता का मिथ्यात्व लगता है। उस जीव को आचार्यदेव ने आत्मा का सच्चा स्वभाव समझाया है कि जिसे अनुभव में लेते ही परमसुख और धर्म होता है।

गुण-गुणी अभेद है, इसलिए जैसे शुद्धज्ञान, कर्म के बन्ध-मोक्ष को अथवा उदय-निर्जरा को नहीं करता; उसी प्रकार शुद्धज्ञानपरिणत जीव भी उन्हें नहीं करता। शुद्धउपादानरूप चैतन्यस्वभाव और उसके भानरूप शुद्धज्ञानपर्याय में कहीं पर का-राग का, कर्ता-भोक्तापना नहीं है। 'शुद्धज्ञान' कहने पर, स्वभावसन्मुख ढली हुई ज्ञानपर्याय अथवा अभेदरूप से उस ज्ञानपर्यायरूप से परिणमित जीव को राग का कर्ता-भोक्तापना नहीं है; त्रिकाली वस्तु में नहीं है और उसे अनुभव करनेवाली पर्याय में भी नहीं है।

- यदि आत्मा पर को करे - भोगे, तो दोनों पदार्थ एक हो जायेंगे।

- रागादिक भी उपाधिभाव हैं, वे सहज शुद्धज्ञान का कार्य नहीं हैं।

ऐसे स्वभाव की शुद्धदृष्टिरूप से परिणमित जीव, शुद्ध उपादानरूप से रागादिक को नहीं करता। वह अपने निर्मलभावों को करता है परन्तु पर को नहीं करता। रागादि विभाव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व अशुद्ध उपादान में है परन्तु जहाँ अन्तरदृष्टि से शुद्ध उपादानरूप से परिणमित हुआ, वहाँ उन अशुद्धभावों का कर्तृत्व नहीं रहता।

जगत् में इस जीव के अतिरिक्त दूसरे जीव तथा अजीव पदार्थ हैं। जीव की अवस्था में रागादिक हैं, इन सबका अस्तित्व है अवश्य, परन्तु शुद्धस्वभाव वस्तु, अर्थात् सच्चे आत्मा की ओर ढला हुआ जीव, इन सबसे अपने को भिन्न अनुभव करता है। मैं चैतन्य सूर्य हूँ, ज्ञान प्रकाश का पुञ्ज हूँ - ऐसी अनुभवदशारूप परिणमित जीव, वह रागादिक का कर्ता-भोक्ता नहीं होता है। निर्मल पर्याय हुई, उसके साथ जीव अभेद है, अर्थात् जैसे निर्मल ज्ञानपर्याय में परभाव का कर्ता-भोक्तापना नहीं है; उसी प्रकार उस पर्यायरूप से परिणमित जीव भी, परभाव का कर्ता-भोक्ता नहीं है; शुद्धपर्याय में अथवा अखण्डद्रव्य में, रागादि का कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है - ऐसे आत्मा को पहचानना ही सच्चे आत्मा की पहचान है और वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

अरे! तेरी चैतन्य जाति में ज्ञान-आनन्द भरा है। सिद्ध परमात्मा जैसे गुण, तेरे में भरे हैं। भाई! शरीर आदि तो जड़ के होकर रहे हैं, वे तेरे में नहीं आये हैं और तुझरूप नहीं हुए हैं। जो अपने नहीं हैं, तथापि 'उनका मैं कर्ता' - ऐसा अज्ञानी मानता है, वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का महापाप, अनन्त दुःख का कारण है। शुद्ध ज्ञातास्वभावी आत्मा को पर का अथवा राग का कर्ता मानने पर अपने ज्ञाताभाव की हिंसा होती है - चैतन्यप्राण का घात होता है, वही हिंसा है।

ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी जीव अपने से भिन्न जगत् के किसी भी पदार्थ को कर अथवा भोग नहीं सकता। अन्तर इतना है कि अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ - मैं भोगता हूँ' - इस प्रकार स्व-पर की एकता की मिथ्यामान्यता करता है और ज्ञानी, स्व-पर की भिन्नतारूप

यथार्थ वस्तुस्वरूप जानता है। यहाँ तो पर से भिन्नता के उपरान्त यह बताना है कि शुद्धज्ञान की दृष्टिवाले ज्ञानी को रागादिभावों का भी कर्ता-भोक्तापना नहीं है। ऐसे शुद्धज्ञान की दृष्टि होने पर निर्मल-वीतरागपर्याय हुई, इसका नाम धर्म है और यही परम अहिंसा है। भगवान ने ऐसी वीतरागी अहिंसा को परम धर्म कहा है।

प्रश्न – इसमें हमारे करने के लिए क्या आया?

उत्तर – भाई! इसमें करना यह आया कि जड़ से और राग से भिन्न अपना चैतन्यस्वरूप जैसा है, वैसा दृष्टि में लेकर उसका अनुभव करना; मोक्ष के लिए यही करने योग्य है। इससे विरुद्ध दूसरा कुछ कार्य चैतन्यप्रभु को सौंपना, वह हिंसा है, अधर्म है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा, अपने से बाह्य में तो कुछ कर नहीं सकता। अशुद्ध उपादानरूप से भी अज्ञानी, मात्र राग को करता है परन्तु पर को तो अशुद्ध उपादानरूप से भी नहीं करता; और आत्मा के भान की सच्ची भूमिका में तो धर्मात्मा, रागादि को भी नहीं करता। अन्तर की अनुभव-दृष्टि में तो धर्मी अपने अतीन्द्रिय आनन्द को ही भोगता है। ऐसा आनन्द का वेदन ही धर्मी की धर्मक्रिया है। ऐसी क्रिया करनेवाले को ज्ञानी कहते हैं। धर्मी होने पर अपनी शान्त – ज्ञान-आनन्दमय वीतरागदशा को ही वह करता है और उसे ही भोगता है – तन्मयरूप से वेदन करता है।

व्यवस्थित भाषा निकले, इच्छानुसार शरीर चले, तथापि वे कार्य आत्मा के नहीं हैं। जिस कार्य में जो हो, उसका वह कर्ता होता है। भाषा में आत्मा नहीं है; भाषा में तो पुद्गल के रजकण हैं। भाषा के रजकणों की खान तो पुद्गलों में है; आत्मा की खान में

आवाज / भाषा के रजकण नहीं हैं, इसलिए आत्मा उसका कर्ता नहीं है। इसी प्रकार शरीर के रजकणों में भी आत्मा नहीं है। आत्मा उनका कर्ता नहीं है और धर्मदृष्टि में धर्मीजीव, विभाव का भी कर्ता नहीं है। धर्मात्मा की सच्ची क्रिया, अन्तर्दृष्टि से पहचानी जाती है। 'थोड़ा लिखा बहुत जानना' – ऐसा यह संक्षिप्त सिद्धान्त/नियम सर्वत्र लागू करके, वस्तुस्वरूप समझ लेना चाहिए।

शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा, परभाव का कर्ता नहीं है। ज्ञान कहो या आत्मा कहो; गुण-गुणी अभेद करके कहा कि शुद्ध आत्मा, रागादिक को तथा कर्मों को जानता है परन्तु उन्हें कर्ता नहीं है। देखो, यह साधकदशा की बात है – जिसे अभी इस प्रकार का व्यवहार है, तथापि शुद्धस्वभाव की दृष्टि में उसका कर्तृत्व छूट गया है – ऐसे साधक की यह बात है।

निश्चयरत्नत्रयरूप मुनिदशारूप आत्मा परिणमित हो, वहाँ देह से वस्त्रादि छूट ही गये होते हैं और दिगम्बरदशा ही होती है। वहाँ वस्त्र छूटे, उनका आत्मा जाननेवाला है परन्तु छोड़नेवाला नहीं। आत्मा पर को ग्रहण करनेवाला अथवा पर को छोड़नेवाला नहीं है; परपदार्थ तो तीनों काल आत्मा से पृथक् ही हैं। जो छूटे हुए ही हैं, उन्हें छोड़ना क्या? 'यह मेरा है' – इस प्रकार अभिप्राय में खोटी पकड़ की थी, उसके बदले पृथक् को पृथक् जाना; इसलिए 'यह मेरा है' ऐसा मिथ्या-अभिप्राय छूट गया। अपनेपन की मिथ्याबुद्धि का त्याग हुआ और पर से भिन्न निजस्वरूप का सम्यक्भान हुआ; इस प्रकार धर्मी को सम्यक्त्वादि निजभाव का ग्रहण (अर्थात्, उत्पाद) और मिथ्यात्वादि परभावों का त्याग (अर्थात्, व्यय) है और जहाँ ऐसा ग्रहण-त्याग हुआ, वहाँ दुःख

का वेदन नहीं रहता; इसलिए वह धर्मी जीव, दु:ख इत्यादि परभावों का भोक्ता भी नहीं है।

अनुकूल संयोग में हर्ष की वृत्ति और प्रतिकूल संयोग में खेद की वृत्ति का वेदन, ज्ञान में नहीं है; ज्ञान का स्वरूप हर्ष-शोक से रहित है। वैसी वृत्ति होती है, उसे ज्ञानी, ज्ञानभाव से जानता अवश्य है कि ऐसी वृत्ति हुई परन्तु मेरा ज्ञान ही हर्ष-शोकरूप हो गया - ऐसा कोई ज्ञानी नहीं जानता। हर्षादि की वृत्ति के समय भी उससे रहित, अकारक-अवेदक ज्ञानरूप से ही धर्मी अपने को पहचानता है।

निर्मल ज्ञानपर्याय में राग का कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है तथा उस ज्ञानपर्याय में अभेद सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा भी उनका अकर्ता -अभोक्ता है। - ऐसा कहकर सम्पूर्ण ज्ञानस्वभाव, अकारक-अभेदक बतलाया है। ऐसे आत्मा का भान हो, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है और वह धर्म का मूल है। लोग दया को धर्म का मूल कहते हैं परन्तु वह तो मात्र उपचार है। दयादि के शुभपरिणाम कहीं मोक्ष के कारण नहीं हैं; वे तो पुण्यबन्ध का कारण हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि जैसे ज्ञान में हिंसा का अशुभभाव नहीं है; उसी प्रकार ज्ञान में दया का शुभभाव भी नहीं है। शुभ-अशुभभाव करने का काम, ज्ञान को सौंपना तो अज्ञान है; उसे ज्ञान का पता नहीं है।

जिस प्रकार पापभाव, ज्ञान का स्वभाव नहीं है; उसी प्रकार शुभविकल्प भी शुद्धज्ञान का कार्य नहीं है। इस प्रकार शुद्धज्ञानरूप से परिणमित ज्ञानी, रागादि को कर्ता नहीं है; मात्र जानता ही है।

'जानता ही है' अर्थात् ज्ञानरूप ही परिणमित होता है; कहीं परसन्मुख होकर उन्हें जानने की बात नहीं है।

देखो! इस जाननरूप ज्ञानक्रिया में मोक्षमार्ग समाहित है। जहाँ अन्तर्मुख दृष्टि से पर्याय की एकता शुद्धस्वभाव के साथ हुई, वहाँ द्रव्य में अथवा पर्याय में कहीं व्यवहार के विकल्पों का कर्तृत्व नहीं रहता; ज्ञान में किसी विकल्प का कर्तृत्व नहीं है, उसका भोक्तृत्व नहीं है, उसका ग्रहण नहीं है, उसरूप परिणमन नहीं है - ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसका धर्मीजीव अनुभव करता है। भगवान ने ऐसे अनुभव को मोक्षमार्ग कहा है -

ऐसा मार्ग वीतराग का कहा श्री भगवान।
समवसरण के मध्य में सीमन्धर भगवान॥

विदेहक्षेत्र में सीमन्धर परमात्मा, दिव्यध्वनि से ऐसा मार्ग उपदेश कर रहे हैं और गणधर इत्यादि श्रोताजन भक्तिपूर्वक साक्षात् सुन रहे हैं। वहाँ बहुत से जीव, ऐसा अनुभव कर-करके मोक्षमार्गरूप परिणमित हो रहे हैं। **कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इन सीमन्धरभगवान की वाणी सुनकर, इस भरतक्षेत्र में भी वही मोक्षमार्ग प्रसिद्ध किया है और ऐसा अनुभव अभी भी हो सकता है। मोक्षमार्ग की विधि तीनों काल में एक ही है।**

जो जीव, श्रीगुरु के उपदेश से ऐसे मोक्षमार्गरूप परिणमित हुआ, उसे उस मोक्षमार्ग का उपदेश करनेवाले देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अत्यन्त बहुमान और विनयादि होते ही हैं, तथापि वह विनयादि शुभराग और अन्तर का ज्ञान - इन दोनों के लक्षण पृथक्-पृथक् हैं - ऐसा ज्ञान भी उसी क्षण वर्तता है। वन्दनादि

विनय के समय ही उसका ज्ञान, अन्तरस्वभाव में नम्रीभूत है; राग में नम्रीभूत नहीं।

शिष्य को केवलज्ञान हो और वह केवलज्ञान होने के बाद भी छद्मस्थगुरु के प्रति वन्दनादि विनय करे – ऐसा तो मार्ग नहीं है। वह तो वीतराग हुए, अब उन्हें वन्दनादि का राग कैसे? अपितु गुरु को ऐसा होता है कि वाह, धन्य है इन्हें.... कि जिस पद को मैं साध रहा हूँ, उस कैवल्यपद को इन्होंने साध लिया है। वीतराग को तो विकल्प होता ही नहीं, परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि जिसे इस प्रकार का विकल्प आता है – ऐसे ज्ञानी को भी ज्ञान में उस विकल्प का कर्तृत्व नहीं है – ऐसा ज्ञानस्वभाव है और ऐसा वीतराग का मार्ग है। जैसे, बाहर के कण आँख में नहीं समाते; उसी प्रकार बाह्यवृत्तिरूप शुभाशुभराग ज्ञानभाव में नहीं समाता। राग तो आकुलता की भट्टी है और ज्ञानभाव तो परम शान्तरस का समुद्र है; उस ज्ञानसमुद्र में रागरूप अग्नि कैसे समायेगी? ज्ञान, स्वयं राग में मिले बिना, उससे मुक्त रहकर उसे जानता है – ऐसा ज्ञानस्वभाव सम्यग्दर्शन में भासित हुआ है।

ज्ञान और राग पृथक् हैं, इस प्रकार पृथक्पना कहो या अकर्तापना कहो, क्योंकि भिन्नपने में कर्तापना नहीं होता। अपने से भिन्न हो, उसे आत्मा जानता अवश्य है परन्तु करता नहीं है। जिस प्रकार केवलज्ञान में विकल्प नहीं है, उसी प्रकार साधक के श्रुतज्ञान में भी विकल्प नहीं है; ज्ञान से विकल्प पृथक् हैं, इसलिए वे ज्ञान में नहीं हैं। केवलज्ञान की भूमिका में तो विकल्प है ही नहीं, जबकि श्रुतज्ञान की भूमिका में देव-गुरु की भक्ति इत्यादि विकल्प हैं परन्तु ज्ञानी उन्हें नहीं करता; उन्हें ज्ञान से भिन्नरूप जानता है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी को विकल्प, ज्ञान के ज्ञेयरूप हैं परन्तु ज्ञान के कार्यरूप नहीं हैं। ज्ञानरूप से परिणमित हुआ जीव, रागादि कषायों का स्पर्श ही नहीं करता; स्पर्श किया तब कहलाये कि यदि उनके साथ एकता करे। जैसे आँख, अग्नि को स्पर्श नहीं करती, उसी प्रकार ज्ञानचक्षु शुभाशुभकषायरूप अग्नि को स्पर्श नहीं करती। यदि स्पर्श करे, अर्थात् एकत्व करे तो वह अज्ञान हो जाए; इसलिए ज्ञान, परभावों को स्पर्श नहीं करता। करता नहीं, वेदता नहीं, तन्मय नहीं होता – ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा ही सच्चा आत्मा है। राग को करे – ऐसा आत्मा, वह सच्चा आत्मा नहीं है, अर्थात् आत्मा का भूतार्थस्वरूप ऐसा नहीं है।

शुभराग इत्यादि व्यवहार क्रिया करते-करते निश्चय-सम्यक्त्वादि होंगे – जो ऐसा मानता है, उसने वास्तविक आत्मा को नहीं जाना है परन्तु राग को / अनात्मा को ही आत्मा माना है, वह महामिथ्यादृष्टि है। सत्यभूत भूतार्थ आत्मा को जाने बिना, सम्यग्दर्शन नहीं होता; सम्यग्दर्शन के बिना चारित्रदशा, अर्थात् मुनिपना नहीं होता; और चारित्रदशा के बिना, मोक्ष नहीं होता। चारित्र / मुनिदशा के बिना तो सम्यग्दर्शन हो सकता है परन्तु चारित्रदशा, सम्यग्दर्शन के बिना कभी नहीं हो सकती; इसलिए मोक्षार्थी को सच्चे आत्मा का निर्णय करके, सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए।

श्रीगुरु करुणापूर्वक सम्बोधन करते हैं कि बापू! अनन्त काल में महामूल्यवान् ऐसा यह मनुष्यपना प्राप्त हुआ है और सत्यधर्म समझने का योग मिला है, उसमें यदि अभी अपने सत् स्वभाव को पहचानकर उसका शरण नहीं लिया तो चार गति में तुझे कहीं शरण नहीं मिलेगी। तू बाहर से अथवा राग से धर्म मना दे, इससे

कदाचित् जगत् के अज्ञानी ठगाये जायेंगे और वे तुझे मान देंगे, परन्तु भगवान के मार्ग में यह बात नहीं चलती। तेरा आत्मा, तुझे जवाब नहीं देगा। राग से धर्म मानने पर तेरा आत्मा ठगा जाएगा; सत् नहीं ठगा जाएगा; सत् तो जैसा है, वैसा ही रहेगा। तू अन्यथा माने, इससे कहीं सत् बदल नहीं जाएगा। तू राग को धर्म मानता है, इससे कहीं राग तुझे शरण नहीं देगा। भाई! तुझे शरणरूप और सुखरूप तो तेरा वीतरागस्वभाव है; दूसरा कोई नहीं। भगवान! तेरे अन्तर में विराजमान ऐसे आत्मा को एक बार देख तो सही!

ज्ञान को आत्मा के साथ अभेदता है और राग के साथ भेद है; राग से धर्म होना मानना तो शत्रु से सहारा मिलेगा – ऐसा मानने जैसा है। अहा, यह प्रभु का मार्ग.... अर्थात्, आत्मा के स्वभाव का मार्ग अलौकिक है। आत्मा स्वयं शुद्धउपादान होकर, कर्मों को अथवा राग को करता नहीं है; मात्र जानता है।

देखो, इसमें तीन बोल आये –

– स्वभावसन्मुख हुई शुद्धज्ञानपर्याय, रागादि को नहीं करती;

– ज्ञानपरिणत आत्मा, रागादि को नहीं करता;

– आत्मा, शुद्ध उपादानरूप से रागादि को नहीं करता।

शुद्धज्ञानपर्याय कहो, ज्ञानपरिणत आत्मा कहो अथवा शुद्ध उपादान कहो, उसमें कहीं रागादि का कर्तृत्व नहीं है।

प्रश्न – शुद्धज्ञानपर्यायरूप से परिणत आत्मा, रागादि को शुद्ध उपादानरूप से भले ही न करे, परन्तु निमित्तरूप से तो करता है न?

उत्तर – भाई! यहाँ यह बात नहीं है; यहाँ तो शुद्ध आत्मा की दृष्टि की बात है। उसमें तो राग का निमित्तकर्तापना भी नहीं है। 'मैं

राग का निमित्त हूँ' – जहाँ तक ऐसी अशुद्धदृष्टि रहती है, वहाँ तक सम्यग्दर्शन नहीं होता। शुद्ध उपादानस्वभाव की दृष्टि के बिना, धर्म नहीं होता है। यहाँ तो आत्मा, राग को जाननेवाला है, अर्थात् राग, वह ज्ञेयरूप से ज्ञान का निमित्त है – ऐसी बात है परन्तु आत्मा, कर्ता होकर राग को अथवा कर्म को निमित्त होता है, यह बात यहाँ नहीं है। ज्ञान और रागादि भावों का एकदम पृथक्करण करने की यह बात है। सत्स्वरूप आत्मा, अर्थात् सच्चा आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है; वह रागस्वरूप नहीं है, रागादि तो सत् स्वभाव में अविद्यमान है।

समयसार की सातवीं गाथा में आचार्यदेव ने यह समझाया है कि ज्ञानी को शुद्धदृष्टि में एक ज्ञायकभाव ही प्रकाशमान है। शुद्धदृष्टि में दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्याय के भेद नहीं हैं; अभेद में पर्याय एकाग्र हुई, वहाँ भेद दिखाई नहीं देते। ज्ञानी को निर्मल पर्यायें तो हैं परन्तु उनके भेद के विकल्प में ज्ञानी रुकता नहीं है।

शुद्ध उपादान में उदयभाव नहीं है – चार गति, चार कषाय, छह लेश्या, तीन वेद, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक सिद्धत्व – इस प्रकार सामान्यरूप से इक्कीस उदयभाव हैं। (जिन्हें तत्त्वार्थसूत्र में जीव के भावरूप से वर्णन किया गया है।) वे भाव, आत्मा के परमशुद्धस्वभाव में नहीं हैं और उस स्वभाव का अनुभव करनेवाली निर्मल पर्याय में भी वे भाव नहीं हैं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भेद का सूक्ष्म विकल्प भी उदयभाव है। अभेद आत्मा में वह विद्यमान नहीं है। गुण तो सब विद्यमान हैं परन्तु एक शुद्धवस्तु का अभेदरूप से अनुभव करने पर, वे गुणभेद दिखाई नहीं देते; एक शुद्ध द्रव्य अनन्त गुण-पर्यायों को अभेदरूप से पी

गया है; उसमें समस्त निर्मल गुण-पर्यायें समा जाती हैं परन्तु उनके भेद नहीं है। भेद को देखने पर विकल्प होता है और अभेद अनुभव में आनन्द का वेदन होता है; इसलिए भेद को गौण करके, अभेद आत्मा का अनुभव कराया है। यह जैन सिद्धान्त का महान् रहस्य है।

आत्मा का स्वभावभूत जो चैतन्यभाव, उसमें से रागादिक उदयभाव नहीं निकलते। जिस प्रकार बर्फ की शीतल शिला में से अग्नि नहीं निकलती; उसी प्रकार अकषायी शान्त चैतन्यरस का पिण्ड आत्मा, वह कषाय अग्नि को कैसे उत्पन्न करेगा और शान्तरस में उसका वेदन कैसे होगा? जो जिस स्वरूप होता है, वह उसे ही कर्ता और भोक्ता है। देहादि जड़ पदार्थ तो आत्मा में नहीं हैं; अत: आत्मा उन्हें कैसे वेदन करे और रागादि परभाव भी आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं; अत: स्वभावदृष्टिवाला आत्मा, उन्हें कैसे भोगे? इस प्रकार जिसमें जो नहीं होता, उसे वह कर्ता या भोक्ता नहीं है। आत्मा का ज्ञायकस्वभाव विकार का अकर्ता और अवेदक है क्योंकि उसमें विकार नहीं है।

भाई! तू स्वयं ऐसा स्वभावरूप है। तेरा ऐसा स्वभाव तुझे समझ में आये ऐसा है। भले ही सूक्ष्म और अतीन्द्रिय है परन्तु ऐसा नहीं है कि समझ में नहीं आये। रागादि को करना और भोगना तो जीव अनादि से कर ही रहा है, वह कोई शुद्ध आत्मा का कार्य नहीं है। शुद्ध आत्मस्वरूप क्या और उसका सच्चा कार्य क्या है? - यह अपूर्व बात आचार्यदेव ने इस समयसार में समझाई है।

शुद्ध आत्मा, जड़ को तो स्पर्श नहीं करता; राग को भी स्पर्श नहीं करता। अशुद्ध अवस्था में रागादि का स्पर्श-अनुभव है परन्तु

त्रिकाली स्वभाव में उसका स्पर्श नहीं है; इसलिए उस स्वभाव को देखनेवाली पवित्रदृष्टि से देखने पर आत्मा, रागादिक का कर्ता–भोक्ता नहीं है। समवसरण में सर्वज्ञ भगवान ने ऐसा आत्मा दिखलाया है; चक्रवर्ती–इन्द्र और गणधर आदरपूर्वक वह उपदेश झेलकर ऐसा अनुभव करते हैं। सूक्ष्म और अतीन्द्रिय होने पर भी समझ में आ सके – ऐसी यह बात है।

आत्मा का ज्ञान, रागादि विकल्पोंरूप नहीं होता। राग और ज्ञान सदा ही भिन्न हैं; इसलिए ज्ञानस्वरूप आत्मा, शुद्ध उपादानरूप से कर्म का अथवा राग का कर्ता–भोक्ता नहीं है। रागादि का कर्तृत्व, अशुद्ध उपादान में है; शुद्ध उपादान में नहीं। शुद्ध उपादान कहो या शुद्धनिश्चयनय का विषय कहो, उसके अनुभव से सम्यग्दर्शनादि होते हैं। ऐसा अनुभव करनेवाला जीव, कर्मों के उदय–निर्जरा का अथवा बन्ध–मोक्ष का कर्ता–भोक्ता नहीं है परन्तु उन्हें मात्र जानता ही है।

इस प्रकार मूल गाथा का अर्थ किया। अब, जयसेनस्वामी ने टीका में **दिट्ठी जहेव णाणं.....** इस पाठ के बदले **दिट्ठी खयंपि णाणं....** ऐसा पाठान्तर स्वीकार करके दृष्टि के साथ क्षायिकज्ञान को लेकर उस क्षायिकज्ञान में अकर्तृत्व बताया है, वह बात करते हैं।

अब, **दिट्ठी खयंपि णाणं** – ऐसा जो पाठान्तर है, उसकी व्याख्या —

'मात्र दृष्टि ही नहीं, परन्तु क्षायिकज्ञान भी निश्चय से कर्मों का अकारक तथा अभेदक ही है। वैसा होता हुआ शुद्धज्ञानपरिणत जीव क्या करता है? जानता है। किसे?

बन्ध-मोक्ष को; मात्र बन्ध-मोक्ष को नहीं, शुभ-अशुभ कर्मोदय को तथा सविपाक-अविपाकरूप तथा सकाम -अकाम दो प्रकार की निर्जरा को भी जानता है।'

जिस प्रकार शुद्धदृष्टि अकर्ता-अभोक्ता है; उसी प्रकार क्षायिकज्ञान भी कर्म के बन्ध-मोक्ष इत्यादि का अकर्ता और अभोक्ता है। पहले अर्थ में दृष्टि का अर्थ, नेत्र-चक्षु किया था; और इस दूसरे अर्थ में दृष्टि, अर्थात् शुद्ध दृष्टि (सम्यक् दृष्टि), ऐसा अर्थ है। चौथे गुणस्थान की दृष्टि से लेकर, ठेठ क्षायिकज्ञान तक कर्मों का और रागादिभावों का अकर्ता-अभोक्तापना है। जैसे, धर्मी को दृष्टि में अकर्तापना है; उसी प्रकार ज्ञान में भी चौथे गुणस्थान से शुरु करके ठेठ केवलज्ञान तक, रागादि का अकर्तापना परिणमित हो रहा है। साधकदशा की शुरुआत से लेकर सिद्धदशा तक ज्ञान में कहीं भी राग के साथ तन्मयपना नहीं है; इसलिए उसका कर्तृत्व नहीं है। (इसी प्रकार भोक्तृत्व का भी समझ लेना चाहिए।)

केवलज्ञान होने पर पुण्य का अथवा वाणी इत्यादि का कर्ता -भोक्तापना हो जाए - ऐसा नहीं है। यह समवसरणादि पुण्य फल और यह दिव्यवाणी इत्यादि सब ज्ञान से भिन्न हैं। ज्ञान, उन किन्हीं का कर्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं; मात्र ज्ञाता है।

भगवान के क्षायिकज्ञान की तरह साधक का ज्ञान भी मात्र जाननेवाला है। उस काल में वर्तते रागादि को अथवा कर्म की अवस्था को, वह ज्ञान कर्ता या भोक्ता नहीं है; ज्ञान तो ज्ञानरूप ही परिणमित होता है, अर्थात् जानता ही है।

अहो! ज्ञानस्वभाव आत्मा, वह सर्वज्ञ भगवान ने और सन्तों ने सिद्ध किया है। ज्ञान का कार्य क्या? - इसका भी जगत् को पता

नहीं है। वह यहाँ बतलाया है। साधकदशा में कम ज्ञान था और क्षायिकज्ञान होने पर ज्ञान अनन्त गुणा बढ़ गया, परन्तु ज्ञान बढ़ा, इससे वह पर का कर्ता हो जाए, ऐसा नहीं है।

उत्कृष्ट ज्ञान और उत्कृष्ट वीर्य भी पर को कर या भोग नहीं सकता। तीर्थङ्करों का केवलज्ञान, दिव्यध्वनि को कर्ता है – ऐसा वास्तव में नहीं है। ज्ञान में जड़ का कर्तृत्व कैसे हो सकता है? आत्मस्वरूप को दिखलाने में निमित्तरूप होने से भगवान की वाणी पूज्य है परन्तु इससे कहीं भगवान का ज्ञान, उस वाणी का कर्ता नहीं हो जाता। यदि ज्ञान में वाणी का कर्तृत्व मानें तो उसने भगवान की वाणी में कथित जीव-अजीव की भिन्नता को नहीं जाना है; भगवान के ज्ञान को नहीं पहचाना है और वाणी को भी सच्चे स्वरूप से नहीं पहचाना है। भगवान, दिव्यध्वनि के ज्ञाता हैं; कर्ता नहीं। अपने में अभी पर की कर्तृत्वबुद्धि पड़ी है; इसलिए दूसरे में भी वह जीव, कर्तृत्वरहित ज्ञान को नहीं पहचान सकता। पहचाने तो उसे भेदज्ञान हुए बिना नहीं रहेगा, यह बात मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी ने भी समझायी है।

अरे! ऐसे ज्ञानस्वभाव की पहचान बिना, संसार में परिभ्रमण करता हुआ जीव, अनन्त बार स्वर्ग में भी गया है परन्तु अन्दर की मिथ्यात्व शल्य मिटे बिना, मोक्षमार्ग इसके हाथ नहीं आयेगा। जैसे, ऊपर से **रूझायले** फुंसी के अन्दर यदि लोहे की कणी रह गयी हो तो वह फुंसी पककर मवाद होती है और असह्य पीड़ा करती है; उसी प्रकार बाहर कषायें मन्द पड़ गयी दिखती हों – व्रत, तप, त्याग, शास्त्र पठन करता हो, परन्तु यदि अन्तर में स्व-पर की एकत्वबुद्धिरूप लोहे की कणी पड़ गयी हो तो वह भयङ्कर

भवदु:ख देनेवाली है। मिथ्यात्व मिटने पर जीव, सिद्धसदृश है – ऐसा कहा।'जैसे सिद्ध, वैसा मैं' – ऐसा भान हुआ, तब मिथ्यात्व छूट गया। पहले ऐसी पहचान करना ही धर्म की महान् क्रिया है।

आत्मा, विज्ञानघन है। जैसे, केवलज्ञान होने पर उस क्षायिकज्ञान में राग का कर्ता–भोक्तापना किञ्चितमात्र भी नहीं है; उसी प्रकार साधकदशा में भी ज्ञान वैसे ही स्वभाववाला है।

– केवलज्ञान होने पर सर्वज्ञ क्या करते हैं? जानते हैं।

– साधकदशा में ज्ञानी का ज्ञान क्या करता है?.....जानता है।

बस! यही आत्मा का काम है। ज्ञान परिणमन ही आत्मा है; उसमें पर का कर्तापना या भोक्तापना नहीं है। अपनी अवस्था में उस–उस काल में वर्तते राग को भी ज्ञान तो जानता ही है। राग को जानने पर ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है; रागरूप नहीं हो जाता है।

साधकदशा में शुद्धज्ञानदृष्टि से परिणमित आत्मा, उस भूमिका में रागादि होने पर भी उन्हें कर्ता–भोक्ता नहीं है। क्षायिकज्ञान होने के बाद वह आत्मा, रागरहित किन्तु दिव्यवाणी को कर्ता होगा? तो कहते हैं कि नहीं; भगवान दिव्यध्वनि के कर्ता नहीं हैं, तथा तीर्थङ्करप्रकृति के भोक्ता भी नहीं हैं। क्षायिकज्ञान, अपनी अचिन्त्य सामर्थ्य से सबको जाननेवाला है परन्तु वह किसी अन्य का कर्ता–भोक्ता नहीं है। केवलज्ञान होने पर सम्पूर्ण शक्ति विकसित हो गयी; इसलिए पर का कुछ कर दे – ऐसा नहीं है। उपदेशरूप वाणी, सहजरूप से अर्थात् कर्ता हुए बिना निकलती है। इस प्रकार नीचे से ठेठ तक समस्त ज्ञान में, पर का अकर्ता–अभोक्तापना समझना चाहिए। ऐसा ही आत्मस्वभाव है। यहाँ क्षायिकज्ञान की

बात की है; इसलिए अकेला क्षायिकज्ञान ही अकर्ता है – ऐसा नहीं समझना। क्षायिकज्ञान की तरह समस्त ज्ञान, कर्म के अकर्ता ही हैं – ऐसा ज्ञान हुआ।

तीर्थङ्कर भगवान पहले साधकदशा में मुनिरूप से थे, तब तो वन–जङ्गल में रहते थे और अब केवलज्ञान होने के बाद तो समवसरण में पुण्यफल के ठाठ के मध्य समवसरण में विराजते हैं – तो क्या वे पुण्यफल के भोक्ता हैं – नहीं; उसके भी ज्ञाता ही हैं। इसी प्रकार पहले साधुदशा में तो भगवान मौनरूप से रहते थे और ध्यान धरते थे; साधु होने के बाद तीर्थङ्कर भगवान, केवलज्ञान होने तक मौन ही रहते हैं और क्षायिकज्ञान प्रगट हुआ, तब समवसरण में छह–छह घड़ी तक प्रतिदिन चार समय उपदेश देते हैं, अर्थात् प्रतिदिन दस घण्टे वाणी का प्रवाह चलता है; – तो क्या क्षायिकज्ञान में उस वाणी का कर्तृत्व है ? नहीं; पहले से ही चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि से अकर्तारूप से परिणमते–परिणमते क्षायिकज्ञान हुआ है, वह भी अकर्ता ही है।

पहले देहादिक का या रागादिक का कर्तृत्व मानें और उसे क्षायिकज्ञान प्रगट हो – ऐसा कभी नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि को पहले से ही अकर्तास्वभाव की दृष्टि का जोर है, वह क्षायिकज्ञान को साधता है।

तीर्थङ्करत्व, वह पुण्य का फल है परन्तु तीर्थङ्करों का केवलज्ञान, उस पुण्यफल का भोक्ता नहीं है। वह पुण्य, उदय में आकर क्षय होता रहता है। उदय है, वह क्षयरूप है; बन्धन का कारणरूप नहीं। इस प्रकार वह पुण्यफल, भगवान को अकिञ्चितकर है, उसके निमित्त से समवसरण की रचना होती है और दिव्यध्वनि निकलती

है – उसमें भगवान को क्या ? भगवान तो उस समवसरण के और वाणी के ज्ञाता ही हैं; उसके कर्ता–भोक्ता नहीं हैं और वे क्रियाएँ भगवान को किञ्चित् भी बन्ध का कारण नहीं होती, क्योंकि उस काल में भी भगवान का आत्मा तो क्षायिकज्ञान में ही परिणमित हो रहा है; उदय का कर्ता–भोक्तापनेरूप नहीं परिणमता है। क्या भगवान बोलते हैं ? नहीं। भगवान नहीं बोलते; वचनवर्गणाएँ बोलती हैं। भाषा तो रूपी है – अचेतन है–कर्णगोचर है; अरूपी आत्मा में से वह नहीं निकलती; वह तो पुद्गल की रचना है।

भाई! जड़–चेतन की भिन्नता का सच्चा ज्ञान तो कर! सच्चा ज्ञान करनेवाले को जिनवाणी का जैसा बहुमान आयेगा, वैसा अज्ञानी को नहीं आयेगा। अहो! वीतराग का यह कोई अलौकिक विज्ञान है, वीतराग का पन्थ, जगत् से अलग है। दिव्यध्वनि का धोध / प्रवाह छूटता हो, इन्द्र और गणधर आदरपूर्वक सुनते हों, तथापि उस वाणी के कर्ता भगवान नहीं हैं और सुनने के शुभराग का कर्ता भी ज्ञानस्वभावी आत्मा नहीं है। ज्ञान का कार्य, ज्ञान में ही समाहित है; ज्ञान का कार्य, वाणी में या राग में नहीं आता। ऐसे ज्ञानस्वभावी आत्मा को पहचाने, तब केवली की और धर्मी की सच्ची पहचान होती है और तब स्वयं में धर्म का प्रारम्भ होता है। धर्म कहो या मोक्ष का मार्ग कहो; धर्म करे और मोक्ष का पता न पड़े – ऐसा नहीं होता।

केवलज्ञान होने पर पहले ही समय में भगवान ने तीन काल –तीन लोक को जान लिया है। कौन से परमाणु कब वाणीरूप से परिणमित होंगे ? – यह भी पहले से ही जान लिया है। वाणी के परमाणुओं को भगवान ग्रहण करते हैं या छोड़ते हैं – ऐसा कर्तृत्व

भगवान में नहीं है। साधक की शुद्धदृष्टि और केवली का क्षायिकज्ञान – ये दोनों, कर्म की अवस्था के अकर्ता–अभोक्ता हैं।

भगवान! तेरा आत्मा ऐसा सर्वज्ञस्वभावी है, उसमें दृष्टि कर तो राग के कर्तृत्वरहितवाला शुद्धपरिणमन होने पर तुझे आनन्द का वेदन होगा। उस आनन्ददशा में दु:ख का कर्तृत्व या भोक्तृत्व नहीं रहता है, तब पर को करने–भोगने की तो बात ही कैसी है? जहाँ शुद्धज्ञान की दृष्टि प्रगट हुई, वहाँ से अकर्ता–अभोक्तापने का परिणमन शुरु हुआ, वह बढ़ते–बढ़ते ठेठ क्षायिकज्ञान तक पहुँचा है। जैसे, धर्मी की दृष्टि परभाव की कर्ता–भोक्ता नहीं है, वैसे ही ज्ञान भी परभाव का कर्ता–भोक्ता नहीं है। ज्ञान का कार्य, ज्ञान में ही समाहित होता है; (ज्ञान से) बाहर नहीं जाता है।

वाह, देखो तो वास्तविक आत्मा का स्वभाव! सम्पूर्ण आत्मा ही ऐसा है। तुझे अपने आत्मा को पहचानना हो या भगवान को पहचानना हो तो ऐसे स्वरूप से पहचानना; उसमें बीच में दूसरी मिलावट करने जायेगा तो सच्चा स्वरूप नहीं पहचाना जाएगा।

तीर्थङ्कर भगवान पहले साधकदशा में मुनिरूप से थे, तब तो मौनरूप से वन–जङ्गल में रहते थे और अब क्षायिकज्ञान–केवलज्ञान हुआ, तब तो समवसरण में दिव्यपुण्य का वैभव भोगते हैं और दिव्यध्वनि करते हैं – इस प्रकार जो भगवान को पर का कर्ता –भोक्तारूप से देखता है, उसने भगवान को पहचाना ही नहीं है। तुझे आत्मा को पहचानना हो तो तू भगवान को ज्ञानस्वरूप पहचान।

भगवान का आत्मा तो ज्ञानमात्र भाव में तन्मयरूप से वर्तता है। यह वाणी, यह समवसरण, यह बारह सभाएँ – इत्यादि पुण्य

के ढ़ेर, वह कोई भगवान के ज्ञान का कार्य नहीं है। उसमें कहीं भगवान का ज्ञान, प्रविष्ट नहीं है। भगवान ने वाणी की, भगवान ने उपदेश दिया – ऐसा शास्त्र में कहा गया हो तो वहाँ वह उपचार से ही कहा गया है। वहाँ तो वाणी के समय कैसा ज्ञान निमित्त है ? – यह बतलाने के लिए उपचार किया है परन्तु वस्तुत: अरूपी ज्ञान में वाणी इत्यादि का कर्ता–भोक्तापना नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वरूप से भगवान को पहचाननेवाले ने ही भगवान को पहचाना कहा जाता है।

तीर्थङ्कर को वाणी का अद्भुत योग होता है, यह सत्य है। दूसरे को वैसी वाणी नहीं होती, तथापि वह वाणी, जड़ का परिणमन है; भगवान के आत्मा का वह कार्य नहीं है। वाणी, कार्य और क्षायिकज्ञान, उसका कर्ता – ऐसा वास्तव में नहीं है तथा उस समय गणधरदेव को बारह अङ्गरूप भावश्रुतज्ञान विकसित हुआ, वहाँ वाणी, कर्ता और गणधर का ज्ञान, उसका कार्य – ऐसा भी नहीं है। देखो तो सही, ज्ञान का निरालम्बी स्वभाव ! ज्ञान, वाणी को उत्पन्न नहीं करता और वाणी से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। भले ही दिव्यध्वनि के पीछे निमित्तरूप केवलज्ञान ही होता है; किसी अज्ञानी का ज्ञान उसमें निमित्तरूप नहीं होता। समयसार की रचना के पीछे कुन्दकुन्दस्वामी का ही ज्ञान, निमित्तरूप होता है। कहीं अबुध –गँवार का ज्ञान वहाँ निमित्तरूप नहीं होता, परन्तु इससे कहीं ज्ञान और वाणी को कर्ता–कर्मपना नहीं है; दोनों तत्त्व ही पृथक् हैं। ज्ञान अपने ज्ञानरूप में ही परिणमित हो रहा है, वह कहीं वाणी में नहीं जाता।

कोई कहे – आप कहते हो कि आत्मा नहीं बोलता, तो अब हम नहीं बोलेंगे, बस !

अरे भाई! पहले भी तू कहाँ बोलता था कि अब बोलने से इन्कार करता है? 'मैं वाणी नहीं बोलूँ, अर्थात् मैं भाषा को नहीं परिणमाऊँ' – ऐसा मानने में भी जड़ की कर्ताबुद्धि खड़ी है। भाषा बोलना, वह जड़ की क्रिया है और भाषा बोलते रुक जाना, वह भी जड़ की क्रिया है।

प्रश्न – समयसार की पहली गाथा में ही **वोच्छामि**... मैं समयसार कहूँगा! ऐसा कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है; अत: आत्मा, भाषा का कर्ता हुआ या नहीं?

उत्तर – नहीं; वह तो उस काल में कैसा विकल्प (समयसार लिखने का) वर्तता है, उसकी बात है। उसी काल में उनका ज्ञान तो उस विकल्प और वाणी दोनों के अकर्तारूप ही परिणमित हो रहा है। उस ज्ञानमात्र को ही उनका आत्मा करता है; वाणी को अथवा विकल्प को नहीं। वे शुद्धज्ञानपरिणत हैं – ऐसा पहचानने पर ही कुन्दकुन्द प्रभु को पहचाना कहा जाता है। उस वाणी के कर्तारूप या विकल्प के कर्तारूप पहचानता है, उसने ज्ञानी को वास्तव में नहीं पहचाना है। ज्ञानी कहते हैं कि हम वाणी में अथवा विकल्प में नहीं खड़े हैं; हम तो अपने ज्ञानस्वभाव में ही हैं। वाणी के या विकल्प के कर्तारूप से हमको मत देखना, यदि देखेगा तो तेरे ज्ञान में भूल होगी। केवली भगवान की तरह शुद्धज्ञानपरिणतिरूप से परिणमित कोई भी जीव, शरीर-मन-वाणी-कर्म-बन्ध-मोक्ष को अथवा राग को नहीं करता, तो क्या करता है? जानता ही है, अर्थात् शुद्धज्ञानरूप ही रहता है। वह 'जानता ही है' – ऐसा जो भाव है, वह मोक्षमार्ग है।

आत्मा, अर्थात् चैतन्यचक्षु। चैतन्यस्वरूप आत्मा तो जगत्

की आँख है। आँख क्या करे? जाने-देखे। क्या आँख से गड्ढा खोदा जाता है या रेत उठाई जाती है? नहीं; आँख पर कोई बोझ नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानचक्षु जगत् को देखनेवाला नेत्र है, उस ज्ञाननेत्र में रेत का, अर्थात् जगत् के रजकणों का ग्रहण-त्याग नहीं है। राग के कर्ता-भोक्तापने का बोझ भी ज्ञानचक्षु में नहीं है। तत्त्वदृष्टि से पर से भिन्न निर्लेप भगवान आत्मा, ज्ञानमय है; कर्म की बन्ध-मोक्ष अवस्था पुद्गलमय है, वह अनात्मा है; ज्ञान उसकी रचना नहीं करता। जड़-चेतन की ऐसी स्वतन्त्र वस्तुस्थिति, जगत् में अनादि से है, वह स्वयंसिद्ध है; कहीं भगवान ने उसे बनाया नहीं है; भगवान ने तो जैसी वस्तुस्थिति थी, वैसी जानी है। शुद्धज्ञाननेत्र में लोकालोक को जानने की सामर्थ्य है; करने की नहीं। 'ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ' - ऐसा जानना, अर्थात् अनुभव करना, वह मोक्षमार्ग है -

ऐसा मार्ग वीतराग का, कहा श्री भगवान।
समवसरण के मध्य में, सीमन्धर भगवान॥

प्रश्न - केवली भगवान को तो अनन्त वीर्य प्रगट हुआ है। यदि भगवान पर का कुछ नहीं करते तो उनमें अनन्त वीर्य / बल क्यों कहा जाता है?

उत्तर - भगवान को अपने अनन्त गुणों की निर्मलपर्यायें रचने की सामर्थ्य प्रगट हुई है; इसलिए अनन्त वीर्य है। केवलज्ञान के साथ ऐसा अनन्त निज बल प्रगट हुआ, परन्तु वह निज बल कहीं पर में काम नहीं करता है। अपनी सम्पूर्ण आत्मशक्ति अपने में कार्य करती है; पर में वह कुछ भी काम नहीं करती है। भगवान

को सम्पूर्ण शक्तियाँ प्रगट हुई, इससे कहीं वे पर को उभार दे – ऐसा पर का कर्तृत्व उनमें नहीं है।

अहो! जो क्षायिकज्ञान प्रगट हुआ, उसकी कोई अचिन्त्य महिमा है परन्तु वह सब महिमा, स्वयं में समाहित है; पर में नहीं जाती। पर का कुछ कर दे तो केवलज्ञान की महिमा कहलाती है – ऐसा नहीं है। ज्ञान तो स्थिरस्वभावी है, वह अपने में स्थिर रहे और निजानन्द को भोगे, दूसरे में कुछ करे या भोगे नहीं। आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीवो! तुम्हारा ज्ञानस्वभाव भी ऐसा ही है। ऐसे ज्ञानस्वभाव को प्रतीति में और अनुभव में तो लो।

● केवली भगवान शुद्धज्ञानपरिणत हैं।

● साधक–धर्मात्मा भी शुद्धज्ञानपरिणत हैं।

इन दोनों के ज्ञान में पर का अकर्ता–अभोक्तापना है। राग का भी कर्ता–भोक्तापना उसमें नहीं है। ऐसे ज्ञानरूप से परिणमित जीव, स्व–पर को जानता है; पर में क्या बाकी रहा? कर्म का बन्ध–मोक्ष या उदय–निर्जरा इत्यादि सबको भी जानता ही है। केवली भगवान को तेरहवें गुणस्थान में प्रति समय, साता के रजकण आते हैं और उसी समय निर्जरित हो जाते हैं तथा दिव्यध्वनि इत्यादि के कारणरूप कर्म भी उदय में आकर क्षय होते जाते हैं। उन्हें भगवान का क्षायिकज्ञान जानता ही है परन्तु कर्ता या भोक्ता नहीं है। यह तो बड़े का दृष्टान्त दिया है किन्तु सभी जीव ऐसे ही ज्ञानस्वरूप हैं।

चैतन्यस्वभाव में पुद्गलों का या परभावों का ग्रहण त्याग नहीं है। ऐसे स्वभाव का जहाँ सम्यक् अनुभव हुआ, वहाँ पर्याय भी

शुद्ध हुई, उसमें रागादि का कर्तृत्व नहीं रहा। जाननेरूप परिणमन आत्मा का है परन्तु रजकणों का संयोग-वियोग हो, उसरूप आत्मा परिणमित नहीं होता, उनसे तो पृथक् ही है – ऐसा ज्ञानस्वभावी आत्मा है।

बड़ों का, अर्थात् सर्वज्ञ भगवान का दृष्टान्त देकर यहाँ आत्मा का स्वरूप समझाते हैं कि भाई! तू तो ज्ञान है न! राग का परिणमन, वह कोई तेरे ज्ञान का कार्य नहीं है, ज्ञान उसमें तन्मय नहीं है, उसका कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है परन्तु जाननेवाला ही है। 'उसका जाननेवाला है', अर्थात् कहीं उसके सन्मुख होकर जानने की बात नहीं है परन्तु जाननेवाला है, अर्थात् ज्ञान जाननेरूप ही परिणमित होता है – ज्ञानभावरूप ही स्वयं परिणमता है; इसलिए वह राग के समय भी जाननेवाला ही है – ऐसा कहा है। अपने ज्ञायकस्वरूप का स्वसंवेदन हुआ, उसका ही वह कर्ता-भोक्ता है। अपने अनन्त गुण के रस को वह वेदता है। वह ज्ञान, स्वभाव के अनन्त भावों से भरपूर है। राग से भिन्न ज्ञान के वेदन में अनन्त गुणों की शुद्धि का वेदन है।

धर्मी को सम्यग्दर्शन होता है और उस भूमिका में राग होता है, शुभाशुभकर्म का उदय आता है, उसे वह जानता है। अपने ज्ञान में रहकर उस उदय को पररूप जानता है। मैं, उदयरूप हो गया या वह उदय, मुझ में आ गया – ऐसा वह नहीं मानता; इसलिए उसे नहीं भोगता – उसमें नहीं मिल जाता; पृथक् का पृथक् ही रहता है। इसी प्रकार उसे अनन्त कर्म, प्रति समय निर्जरित होते हैं, उसे भी वह जानता है।

अज्ञानी तो ज्ञान को रागरूप मानता है, शुभाशुभकर्म के फल

को आत्मा का मानकर उसका कर्ता–भोक्ता होता है। आचार्यदेव उसे समझाते हैं कि अरे भाई! तू तो ज्ञान है; तू कर्म नहीं है। कर्म का कार्य, कर्म में है; ज्ञान में कर्म का कार्य नहीं है। ज्ञान तो चक्षु की तरह कर्मों से पृथक् ज्ञानरूप ही परिणमित होता है। जैसे, अग्नि को जानने पर आँख क्या अग्निरूप परिणमति है या अग्निरूप हो जाती है? – आँख तो आँखरूप ही रहती है, अग्निरूप नहीं होती; उसी प्रकार रागादि को जानने पर ज्ञानचक्षु तो ज्ञानरूप ही रहता है, रागरूप नहीं होता। इसलिए उसे वह कर्ता या भोक्ता नहीं है।

प्रश्न : भरत चक्रवर्ती तो पुण्यफल को भोगते थे?

उत्तर : धर्मी को चक्रवर्ती का राज्य इत्यादि पुण्य के संयोग होते हैं तथापि वह जानता है कि मैं तो ज्ञान हूँ; यह पुण्यफल मेरे ज्ञान में नहीं आया है, यह संयोग मेरे ज्ञान का फल नहीं है; इसलिए मेरा ज्ञान इसका कर्ता या भोक्ता नहीं है। पुण्यफल में मैं नहीं हूँ; मैं तो अपने ज्ञान में हूँ, मेरा तो ज्ञान है। पुण्य मैं नहीं, परन्तु पुण्य का जाननेवाला मैं हूँ; ज्ञान–आनन्दरूप जो निर्मल परिणति, उसमें मैं हूँ; पूर्व में राग हुआ और पुण्य बँधा, वह मैं नहीं और उसका फल भी मैं नहीं; वर्तमान शुभराग होता है, उसका भी स्वामीपना नहीं है; इसलिए उसके फल का भी स्वामीपना नहीं है। मैं तो जाननेवाला –ज्ञानस्वभाव में ही हूँ और सदा ही उसरूप ही रहूँगा – ऐसी अनुभवदशा हो, उसे ज्ञानी कहते हैं। उसके बिना अन्य सब तो बाहर की बातें हैं।

यह तो प्रभु की बात है; किसी पामर / रङ्क की यह बात नहीं है। चैतन्यप्रभु स्वयं अनन्त गुण का स्वामी है, यह उसकी बात है।

किसी को यह बात कठिन लगे, परन्तु सन्त कहते हैं कि भाई! तेरे स्वरूप में जितना है, उतना ही हम कहते हैं; कहीं बढ़ाकर नहीं कहते।

आत्मा, ज्ञानमूर्ति है। उसके सन्मुख परिणमन होने पर अवस्था में भी शुभाशुभकर्मों का कर्ता–भोक्तापना नहीं रहता। जगत में पुण्य है, उसका फल है परन्तु ज्ञानी के ज्ञानभाव में वह नहीं है; ज्ञानी उसे चैतन्य से भिन्नरूप देखते हैं, इसलिए वे उसके कर्ता –भोक्ता नहीं हैं।

सातवें नरक में भी असंख्यात धर्मी जीव, अपने ऐसे आत्मा को जानते हैं। अशुभ के उदय से शरीर में रागादि हुए या शुभ के उदय से अनुकूलताएँ प्राप्त हुई, वहाँ वह मुझे हुआ – ऐसा नहीं है और उसका मैं भोक्ता नहीं हूँ; मैं तो दोनों से पार, ज्ञान हूँ। आत्मा से बाहर दूसरी वस्तुएँ सत् है अवश्य, परभाव भी है परन्तु धर्मी उन किसी को आत्मारूप नहीं मानता; अनात्मारूप समझता है।

शुभ का उदय, वह सुख और अशुभ का उदय, वह दुःख – ऐसा धर्मी नहीं मानता और वह उसे नहीं भोगता। अन्दर आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है; उसमें उपयोग जोड़कर, उसका वेदन करता है; इसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं है। आहा...! धर्मी की दशा ही कोई निराली है। उसके ज्ञानचक्षु ज्ञानरूप ही रहते हैं; परभाव का कण उसमें प्रविष्ट नहीं हो सकता।

शुद्धज्ञानपरिणत धर्मीजीव, कर्मोदय तथा निर्जरा को भी जानता है; उसका कारक या वेदक नहीं होता – ऐसा कहा है। उसमें कर्म की निर्जरा दो प्रकार की है – सविपाक और अविपाक अथवा अकाम और सकाम।

स्थिति पूर्ण होने पर कर्म, उदय में आकर खिर जाते हैं, वह **सविपाकनिर्जरा** है; और जीव के पुरुषार्थपूर्वक, कर्मों का खिर जाना, वह **अविपाकनिर्जरा** है अथवा सकाम और अकाम ऐसे दो प्रकार हैं। उसमें जीव के पुरुषार्थपूर्वक तप इत्यादि के द्वारा जो निर्जरा होती है, वह **सकामनिर्जरा** है; और इच्छा न होने पर भी, क्षुधा-तृषादि प्रतिकूलता आवे, उन्हें समभाव से सहन करे, वहाँ जो निर्जरा होती है, वह **अकामनिर्जरा** है। उसमें भी जीव का उस प्रकार का पुरुषार्थ तो है।

यहाँ तो कहते हैं कि पुद्‌गलकर्म की ऐसी अवस्थाओं को जीव जानता ही है; उसका कर्ता, जीव नहीं है। अजीवकर्म की अवस्थाओं को ज्ञान कैसे करे? अनेक प्रकार के उदयगत कर्मों को अथवा उनकी निर्जरा को, कर्म के बन्ध को या उसके छूटनेरूप मोक्ष को - इन सभी अवस्थाओं का ज्ञान, कर्ता-भोक्ता नहीं है; जानता ही है। कर्म का पाक, कर्म में है; चैतन्य में कर्म का पाक नहीं है। चैतन्य का पाक, आनन्दरूप है; राग भी चैतन्य का पाक नहीं है।

जड़कर्म का उदय और उस ओर के शुभाशुभ उदयभाव, वह चैतन्यक्षेत्र की उपज नहीं है; इसलिए वह ज्ञान का कार्य नहीं है। ज्ञान का कार्य, अर्थात् धर्मी का कार्य; धर्मी का कार्य, अर्थात् शुद्धात्मा का कार्य, अथवा शुद्ध उपादान का कार्य; उस कार्य में राग नहीं है। शुद्ध उपादानरूप से आत्मा, रागादि का कर्ता नहीं है। जहाँ-जहाँ 'कर्ता नहीं है' - ऐसा कहा जाता है, वहाँ सर्वत्र अकर्तृत्व की तरह अभोक्तृत्व भी समझ लेना, अर्थात् 'भोगता भी नहीं है' - ऐसा समझ लेना। ज्ञान, समस्त परभावों का अकारक और अवेदक है।

ज्ञानी या अज्ञानी सभी जीवों को अनन्त कर्म रजकण, उदय में आकर प्रति समय खिर जाते हैं। तदुपरान्त ज्ञानी को शुद्धस्वरूप के ध्यानादि से अनन्त कर्म खिर जाते हैं परन्तु वहाँ कर्म की जो अवस्था हुई, उसे तो ज्ञान जानता ही है; कर्ता नहीं है। ज्ञान, राग को भी नहीं करता, तब कर्म की अवस्था को तो कैसे करेगा? फिर कर्म की बन्ध अवस्था हो या उदय अवस्था हो; निर्जरा अवस्था हो या सर्वथा छूटनेरूप अवस्था हो, उससे पृथक् ही परिणमता हुआ, ज्ञान उन्हें जानता है।

सविपाकनिर्जरा और अविपाकनिर्जरा, वह ज्ञानी को भी होती है और अज्ञानी को भी होती है। यहाँ निर्जरा की सामान्य व्याख्या है, अर्थात् कर्मों के रजकण प्रति समय खिरते हैं, वह निर्जरा है; इसलिए अज्ञानी को भी निर्जरा होती है (– ऐसा कहा है)। मोक्ष के कारणरूप जो निर्जरा है, वह तो आत्मा के शुद्धभावपूर्वक होती है – ऐसी निर्जरा, अज्ञानी को नहीं होती। आत्मा में शुद्धि की वृद्धि होवे, उसे भी निर्जरा कहा जाता है। सम्यक्त्वपूर्वक शुद्धि की वृद्धिरूप जो निर्जरा है, वह मोक्ष का कारण है और ऐसी निर्जरा तो धर्मी को ही होती है परन्तु ऐसी निर्जरा के समय भी कर्म में जो निर्जरारूप अवस्था होती है, उसका कर्ता ज्ञानी नहीं है; ज्ञानी तो अपने शुद्धज्ञान परिणमन का ही कर्ता है।

यह शुद्धात्मा का वर्णन है। शुद्धज्ञानरूप से परिणमित जीव को स्वभावसन्मुखता से कर्म छूटने लगे, वहाँ ज्ञान का कार्य, कर्म को छुड़ाने का नहीं है परन्तु ज्ञानरूप से परिणमित होना ही ज्ञान का कार्य है। स्वभाव की विमुखता से बँधे हुए कर्म, स्वभाव की सन्मुखता से अवश्य छूट जाते हैं परन्तु वह कर्म को बाँधने–छोड़ने

की क्रिया, ज्ञान में नहीं है। आत्मा, कर्ता होकर पुद्गल के कार्य को करे या उसके फल को भोगे – ऐसा नहीं होता है। निमित्त –नैमित्तिक सम्बन्ध होने से आत्मा ने कर्म बाँधे या आत्मा ने कर्म छोड़े – ऐसा कथन किया जाता है। निमित्त अपेक्षा से आत्मा को कर्म की निर्जरा इत्यादि का कर्ता कहा, परन्तु शुद्ध उपादानरूप से आत्मा, कर्म के उदय–निर्जरा या बन्ध–मोक्ष को नहीं करता है। उस–उस काल में स्वयं अपने शुद्धज्ञानरूप से परिणमित होते हुए ज्ञानी उन्हें जानता ही है। उसमें इतनी विशेषता है कि उसका शुद्धज्ञान, कर्म की निर्जरा या मोक्ष होने में तो निमित्त है परन्तु कर्म के बन्धन में तो वह निमित्त भी नहीं है। ऐसा शुद्धज्ञानस्वरूपी आत्मा है।

भाई! तेरा आत्मा तो ज्ञानसूर्य है। वह चैतन्य किरणवाला है; राग किरणवाला नहीं है। जैसे, सूर्य में से तो तेजस्वी किरणें निकलती हैं, सूर्य में से काली किरणें नहीं निकलती; उसी प्रकार चैतन्यसूर्य में से तेजस्वी ज्ञानकिरण निकलती हैं परन्तु राग या कर्मरूप काली किरणें उसमें से नहीं निकलतीं। जैसे सूरज, काले पदार्थों को भी प्रकाशित अवश्य करता है; उसी प्रकार ज्ञानसूर्य, रागादि भावों को अवश्य जानता है – प्रकाशित अवश्य करता है परन्तु ज्ञान उनका कर्ता नहीं है।

देखो! जगत् में आत्मा है और आत्मा के अतिरिक्त दूसरी वस्तुएँ भी हैं। स्व और पर दोनों वस्तुएँ हैं। उनका भेदज्ञान करके स्वसन्मुख एकाग्र होने की यह बात है। यदि आत्मा के अतिरिक्त दूसरी वस्तुएँ जगत् में हों ही नहीं तो भेदज्ञान करने का या स्वसन्मुख ढलने का नहीं रहता। जगत् में चेतन है, जड़ है; ज्ञान है, राग है –

इन सबको जानकर, भेदज्ञान द्वारा जड़ और राग से भिन्न – ऐसे ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होना, वह मोक्षमार्ग है, उसका यह उपदेश है।

मैं ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ – ऐसी प्रतीति, वह जीवतत्त्व की प्रतीति हुई। ऐसी प्रतीतिपूर्वक कर्म का उदय या निर्जरा, बन्ध या मोक्ष – इत्यादि प्रकारों को तथा शरीर–वाणी के कार्यों को अजीव की अवस्था के रूप में धर्मी जीव जानता है। वह अवस्था मेरी नहीं है और मैं उसका कर्ता नहीं हूँ – ऐसी भिन्नता के भानपूर्वक धर्मी उन्हें जानता है। शुभ–अशुभकर्मों का उदय तो अज्ञानी को भी होता है और ज्ञानी को भी होता है। कई बार अज्ञानी को अमुक प्रकार के शुभ का उदय हो और ज्ञानी को किञ्चित् अशुभ का उदय हो – ऐसा भी होता है परन्तु ज्ञानी जानता है कि मुझमें उदय है ही नहीं; मैं तो ज्ञान हूँ और अज्ञानी तो उस उदय में ही एकाकारबुद्धि से वर्तता हुआ, ज्ञान को भूल जाता है। ज्ञानी, कदाचित् नरक में हो तो भी उस समय के नरक सम्बन्धी उदय से भिन्न ज्ञानरूप ही अपने को अनुभव करता है ('बाहिर नारकी कृत दुःख भोगत, अन्तर सुखरस गटागटी...') जबकि अज्ञानी, स्वर्ग में बैठा हो तो भी उदय के साथ एकाकार बुद्धि से मिथ्यात्व का ही सेवक होता हुआ दुःखी ही है।

जिसे अन्तर के ज्ञानचक्षु नहीं खुले हैं, उसे सुख कैसा ? सुख तो अन्तर में है, उसे वह देखता नहीं है। यह तो ज्ञान और राग की सन्धि को छेदकर, अन्दर उतरने की बात है – तू प्रज्ञाछैनी ज्ञान और उदय की सन्धि सब छेदने...। नरक में तो इतने तीव्र प्रतिकूल संयोग हैं कि ऐसी प्रतिकूलता यहाँ तो किसी को भी नहीं होती है, तथापि ऐसी प्रतिकूलता के प्रसंग के मध्य भी वहाँ के सम्यग्दृष्टि

जीव, आत्मा के आनन्दरस को भोग रहे हैं। संयोग से पृथक् ही चिदानन्दस्वभाव को अन्दर में देखकर आनन्द को भोगते हैं। यद्यपि अमुक दु:ख का वेदन है परन्तु उस वेदन में ज्ञान, एकाकार नहीं होता; इसलिए ज्ञान उसका भोगता नहीं है, ज्ञान तो उससे पृथक् रहकर उसे जानता ही है और अतीन्द्रिय आनन्द में एकाकार होकर उसकी मौज करता है। **मांही पड्या ते महा सुख माने... देखनारा दाजे जोने...** ऐसा कहा जाता है न! यहाँ तो देखनेवाले जलते नहीं, परन्तु देखनेवालो को ही आनन्द होता है – ऐसी बात है। अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में पड़े हुए सन्तों को देखने पर, मुमुक्षु को आनन्द होता है।

प्रतिकूल संयोग, वह कहीं दु:ख नहीं है और अनुकूल संयोग, वह कहीं सुख नहीं है। स्त्री, पैसा, मकान इत्यादि में कुछ सुख तो है नहीं, परन्तु अज्ञानी ने सुख की कल्पना की है। अरे! चैतन्य आत्मा अन्दर में आनन्दरस का सागर है, उसमें दृष्टि करनेवाले और उसमें एकाग्र होनेवाले जीव, परम सुखी हैं। वे कर्म के चार प्रकारों को और इसी प्रकार समस्त पदार्थों को जानते हैं परन्तु उन्हें करते–भोगते नहीं हैं; ज्ञानरूप ही रहते हैं – ऐसी शुद्धज्ञानदशा, वह धर्म है, वह मोक्षमार्ग है।

जैसे – आँख, पदार्थों को मात्र देखती है, उन्हें अपने में ग्रहण नहीं करती; उसी प्रकार आत्मा की आँख, अर्थात् शुद्धज्ञानपरिणति भी, राग–द्वेष को, पुण्य–पाप को करती–भोगती नहीं है, उसे रचती नहीं है, ग्रहण नहीं करती, उनसे पृथक् ही वर्तती है। यदि अग्नि को भोगने जाए तो आँख जल जाएगी। यदि ज्ञानचक्षु, रागादि को भोगने जाए तो उसकी शान्ति जल जाएगी। राग तो

अग्नि है और ज्ञान तो शान्तिस्वरूप है। रागरहित शान्ति में वर्तता ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। वह ज्ञान, रागादि परभावों का स्पर्श नहीं करता, उनका वेदन नहीं करता, उनका कर्ता नहीं होता – ऐसे शुद्धज्ञान में से राग की उत्पत्ति नहीं होती, ज्ञान का ऐसा स्वयंसिद्ध स्वभाव है। ज्ञान कहने पर अभेदरूप से शुद्धज्ञानपरिणत जीव भी वैसा ही है। निर्मल ज्ञानपर्याय और आत्मा अभेद हुए, उसमें कहीं रागादि का कर्ता-भोक्तापना नहीं है। इस प्रकार ज्ञानरूप हुआ सम्यग्दृष्टि आत्मा, शुद्ध उपादानरूप से ज्ञान को कर्ता है परन्तु रागादि को या कर्मों को नहीं करता, नहीं भोगता; उन्हें मात्र जानता है।

क्षायिकज्ञान बहुत बलवान है। समस्त पदार्थों को एक साथ जानने की सामर्थ्यवाला है परन्तु उसमें पर का कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। उस ज्ञान में समस्त ही ज्ञेय है, कोई ज्ञेय बाकी नहीं है परन्तु ज्ञान से भिन्न किसी ज्ञेय को वह कर्ता-भोक्ता नहीं है। जैसे, केवली भगवान क्षायिकज्ञान द्वारा जानने की ही क्रिया करते हैं; उसी प्रकार साधक का ज्ञान और साधक की दृष्टि भी वैसी ही है, अर्थात् वह भी रागादि को जानता ही है; उन्हें कर्ता-भोक्ता नहीं है।

केवली को तो राग होता ही नहीं है; इसलिए वे उसे नहीं करें, परन्तु साधक को तो राग है; इसलिए वह उसका कर्ता होता होगा? – ऐसी शङ्का नहीं करना। साधक का ज्ञान भी केवलज्ञान की तरह राग से पृथक् वर्तता है। राग उसे ज्ञेयरूप ही है परन्तु ज्ञान, वह राग को नहीं करता, उसमें तन्मय नहीं होता; केवली का 'ज्ञान' हो या साधक का 'ज्ञान' हो। ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है कि उसमें राग समाहित नहीं होता; वह तो राग से भिन्न ज्ञायक ही है।

इस प्रकार चक्षु के दृष्टान्त से आत्मा का ज्ञायकस्वभाव बतलाया है। ऐसे ज्ञायकस्वभावी आत्मा को जानना-अनुभव करना, वह मोक्षमार्ग है।

यह समयसार की 320वीं गाथा पर जयसेनाचार्य की टीका पढ़ी जा रही है। जयसेनस्वामी ने 308 से 320 तक की गाथाओं को मोक्ष-अधिकार की चूलिकारूप से वर्णन किया है। उसके प्रारम्भ में उपोद्घात में (अर्थात्, समुदायपातनिका में) ऐसा कहा था कि 'सर्व विशुद्ध-पारिणामिक परमभाव द्वारा परमभाव ग्राहक शुद्ध उपादानभूत शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से जीव, कर्तृत्त्व-भोक्तृत्व से तथा बन्ध-मोक्ष के कारणरूप परिणाम से रहित है।' इस प्रकार जीव का अकर्ता और अभोक्तारूप शुद्धज्ञानस्वभाव बतलाया; तथा जीव का ऐसा स्वभाव होने पर भी अवस्था में उसे जो कर्मप्रकृति के साथ बन्धन होता है, वह अज्ञान के कारण है-ऐसा बतलाया। तत्पश्चात शुद्ध निश्चय से कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अभावरूप तथा बन्ध-मोक्ष के कारणरूप परिणाम के अभावरूप, शुद्धस्वरूप का जो कथन किया, उसका अन्तिम दो गाथा (319-320) द्वारा उपसंहार किया; इस प्रकार मोक्ष-अधिकार सम्बन्धी चूलिका समाप्त हुई।

यह किसकी बात है?- जीव के स्वभाव की बात है। प्रत्येक जीव में ऐसा स्वभाव भरा है, उसे देखने की यह बात है। कैसा है जीव का स्वभाव? शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से देखने पर, वह परमपारिणामिक सहजभावरूप है; उसे ही शुद्ध उपादान भी कहते हैं। ऐसे परमभाव को देखने पर वह बन्ध-मोक्ष के परिणाम से भी शून्य है क्योंकि वे परिणाम तो पर्यायार्थिकनय का विषय है; इसलिए

शुद्धद्रव्य को देखनेवाली दृष्टि में वे दिखाई नहीं देते। द्रव्यदृष्टि तो परमभाव की ही ग्राहक है। सर्वविशुद्ध पारिणामिक परमभाव को शुद्ध द्रव्यार्थिकनय ग्रहण करता है; पर्यायभेद को वह ग्रहण नहीं करता; इसलिए उस नय की दृष्टि में कर्म का कर्तृत्त्व-भोक्तृत्व या बन्ध-मोक्ष के कारण का ग्रहण नहीं है। वह एकरूप शुद्ध परम द्रव्य को ही देखता है। ऐसा द्रव्यात्मलाभ, वह पारणामिकभाव का लक्षण है।

द्रव्य का निजस्वरूप से अस्तित्व, वह 'द्रव्य-आत्मलाभ' है। आत्मलाभ, अर्थात् स्वरूप की प्राप्ति; द्रव्य के स्वरूप का लाभ। उसका हेतु पारिणामिकभाव है। पारिणामिकभाव से द्रव्य सदा निजस्वरूप से एकरूप अस्तित्ववाला है। परमभावग्राहक दृष्टि से ऐसा द्रव्यात्मलाभ होता है, अर्थात् ऐसा द्रव्यस्वरूप दिखता है।

ध्रुवदृष्टि से देखने पर द्रव्य, ध्रुव है। उस ध्रुवदृष्टि में तो बन्ध-मोक्ष का कारण-कार्यपना नहीं है। एकरूप परमस्वभाव ज्ञायकभाव ही प्रकाशित है। परिणमन, वह पर्यायनय का विषय है। ध्रुवस्वभाव को देखनेवाली पर्याय, अन्तर में अभेद हुई है, वह रागादि का स्पर्श नहीं करती और पर्यायभेद को भी वह स्पर्श नहीं करती। ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि होने पर, पर्याय में मोक्षमार्ग प्रगट होता है। वह पर्याय भी रागादि परभावों की कर्ता-भोक्ता नहीं है।

'आत्मा को बन्धन है और उसका अभाव करके मोक्ष करूँ'- ऐसे बन्ध-मोक्ष परिणामरूप जो क्रिया है, वह पर्याय में है; ध्रुवद्रव्य क्रियारूप नहीं है, वह अक्रिय है। पलटे, वह पर्याय; टिके, वह ध्रुव है - ऐसी द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु को भावश्रुतज्ञान

प्रमाण जानता है। स्वसंवेदनरूप भावश्रुत में द्रव्य-पर्याय जैसे हैं, वैसे ज्ञात होते हैं।

यह अन्दर में भगवान का साक्षात्कार करने की बात है। ध्रुवस्वभावी भगवान का निर्णय करनेवाली पर्याय है परन्तु वह पर्याय कहीं पर्याय के समक्ष देखकर निर्णय नहीं करती; अभेदरूप से ध्रुवसामान्य में दृष्टि करके वह निर्णय करती है और तब उसमें भगवान का साक्षात्कार होता है। ऐसे निज परमात्मद्रव्य को धर्मी जीव, अन्तर्मुख होकर भाता है; खण्डरूप ज्ञान को वह नहीं भाता। इसलिए टीका में अन्त में कहेंगे कि 'ध्याता पुरुष ऐसा भाता है कि सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य, वही मैं हूँ' परन्तु खण्डरूप मैं हूँ - ऐसा वह नहीं भाता है। जहाँ खण्डज्ञानरूप से भी अपने को नहीं भाता, वहाँ शरीर के कर्तापने की या रागादि परभाव के कर्तापने की तो बात ही कहाँ रही?

अहो! ज्ञानस्वभावी आत्मा को सत्यस्वरूप से सर्वज्ञ भगवान ने जैनशासन में प्रसिद्ध किया है। ऐसे आत्मा को पहचानने से -अनुभव करने से ही जीव का कल्याण है। उसे पहचानकर निरन्तर उसकी भावना करने योग्य है।

ध्यान कहो या भावना कहो, वह पर्याय है परन्तु पर्याय स्वयं पर्याय के भेद को नहीं ध्याती है, वह तो अभेद द्रव्य को भाती है -ध्याती है। इसलिए राग के साथ एकता टूटकर, अभेदस्वभाव के साथ एकता होने पर मोक्षमार्ग होता है। अन्तर्मुख होने पर साधक को श्रुतज्ञान में भी ऐसा आत्मा प्रत्यक्षरूप होता है। श्रुतज्ञान होने पर भी आत्मा का जो स्वसंवेदना है, वह प्रत्यक्ष है। उसमें

इन्द्रियादि की अपेक्षा नहीं है, ऐसी शुद्धात्मानुभूति इस तात्पर्यवृत्ति का तात्पर्य है।

हे जीव! तेरा परमस्वभाव, अर्थात् शुद्धज्ञान; वह ज्ञान, परभावों से शून्य है। अहो! जैसे केवलज्ञान में राग का या पर का कर्ता –भोक्तापना नहीं है; उसी प्रकार ज्ञान के किसी अंश में पर का या राग का कर्ता–भोक्तापना नहीं है। क्या केवलज्ञान राग को करता है? नहीं; तो तेरा ज्ञान भी राग को नहीं करता। आत्मा ऐसे ज्ञानस्वरूप से भरपूर है परन्तु परभावों से खाली है।

भाई! तेरा ज्ञान तो स्वयं के आनन्द को भोगनेवाला है। ज्ञान में अनन्त सामर्थ्य प्रगट हुई, वह क्या करे? अपने अनन्त आनन्द का वेदन करे, परन्तु पर में कुछ नहीं करे।

हे भाई! अनन्त वीर्यसहित ऐसा जो क्षायिकज्ञान है, उसमें भी पर को करने–भोगने की सामर्थ्य नहीं है तो तू तुझमें यह बात कहाँ से लाया? तुझे क्षायिकज्ञान का पता नहीं है; इसलिए तेरे ज्ञानस्वभाव का भी तुझे पता नहीं है। जैसे – केवलज्ञान, सातावेदनीय इत्यादि के परमाणु आवे या जावें, उन्हें मात्र जानता ही है; उसी प्रकार सर्वज्ञस्वभाव की दृष्टिवाले धर्मी–जीव का ज्ञान भी, कर्म को अथवा रागादि को जानता ही है परन्तु उसका ज्ञान, उस अशुद्धता के साथ या कर्म के साथ मिल नहीं जाता; पृथक ही रहता है। ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द का भोग है परन्तु राग का अथवा पर का भोग, ज्ञान में नहीं है।

त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में तो पर का कर्ता–भोक्तापना भी नहीं है और उस स्वभाव की दृष्टिरूप जो निर्मलपरिणति हुई, उसमें भी

पर का कर्ता–भोक्तापना नहीं है। 'मैंने राग करके पुण्यकर्म बाँधा है और उस पुण्य के फल को मैं भोगता हूँ'– ऐसा धर्मी नहीं मानता है। मैं तो ज्ञान ही हूँ और ज्ञान के फलरूप अतीन्द्रिय आनन्द को भोगता हूँ; इस प्रकार धर्मी अपने को ज्ञान–आनन्दरूप ही अनुभव करता है। फिर कोई अशुभकर्म का उदय आ पड़े (जैसे कि श्रेणिक को नरक में पापकर्म का उदय है), वहाँ भी धर्मी जीव, उस अशुभकर्म के फलरूप अपने को अनुभव नहीं करता; वह तो उससे भिन्न ज्ञानरूप ही अपने को अनुभव करता है, अपने आत्मिक आनन्द को ही अनुभव करता है। जो शुभ–अशुभ है, उसके वेदन को अपने ज्ञान से भिन्न जानता है। जैसे – सूर्य, जगत् के अनेक शुभाशुभ पदार्थों को राग–द्वेष के बिना ही प्रकाशित करता है परन्तु उन्हें कर्ता–भोक्ता नहीं है – ऐसा ही उसका प्रकाशस्वभाव है; उसी प्रकार चैतन्यसूर्य आत्मा भी अपने ज्ञानचक्षु से शुभ–अशुभ पदार्थों को जानता ही है, उन्हें करने या भोगने का उसका स्वभाव नहीं है। ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है, ज्ञान का ज्ञानपना स्वयं से है। ऐसे ज्ञानस्वभावी आत्मा का जानकर, उसकी भावना करना – ऐसा उपदेश है। वह 'भावना', मोक्षमार्ग है।

अज्ञानी अपने ऐसे ज्ञानस्वभाव को भूलकर, राग और पर के साथ एकत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व से संसार में दुःखी हो रहा है। अज्ञान से उसके ज्ञानचक्षु मुँद गये हैं। यहाँ आचार्यदेव, आत्मा का पर से भिन्न अकर्ता–अभोक्ता ज्ञानमात्र स्वभाव बतलाकर उसके ज्ञानचक्षु खोलते हैं। भाई! तू तो ज्ञानस्वरूप है, तेरे चैतन्यचक्षु जगत् के साक्षी हैं परन्तु स्वयं से बाह्य ऐसे रागादि के अथवा जड़ की क्रिया के करनेवाले नहीं है। शुद्धज्ञानचक्षु में परभाव नहीं

समाता है। ज्ञान में रागादि का कर्तृत्त्व मानना, वह तो आँख से पत्थर उठाने जैसा अनर्थ है। आत्मा, ज्ञानभाव की मूर्ति है, उस ज्ञानरूप से परिणमित ज्ञानी, रागादिरूप से परिणमित नहीं होते। ज्ञान के परिणमन में राग का परिणमन नहीं है। शुद्धपरिणति में अशुद्धपरिणति का कर्तृत्व कैसा होगा? ऐसी शुद्धपरिणतिरूप से परिणमित आत्मा, वह शुद्ध आत्मा है, वह सत्य आत्मा है। आत्मा का ऐसा सत्यस्वरूप समझाकर, ज्ञानी गुरुओं ने भव्य जीवों के ज्ञानचक्षु खोल दिये हैं।

अरे जीव! तेरी चैतन्य जाति कैसी है? तेरी चैतन्य आँख कैसी है? यह उसकी बात है। जगत् का प्रकाशक, किन्तु जगत् से पृथक् ऐसा ज्ञान है, वह तेरा स्वरूप है। ऐसे ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा करके, उसे अनुभव में ले। राग का काम, ज्ञान को सौंपना, वह तो बोझ है। जैसे, चक्रवर्ती से कोई कचरा निकलवाना चाहे तो वह अनर्थ है; उसी प्रकार चैतन्य चक्रवर्ती से विकार का काम कराना चाहे तो वह अनर्थ है, अज्ञान है। आँख से रेत उठाना, वह आँख का नाश करने जैसा है; उसी प्रकार ज्ञानचक्षु से जो जड़ का अथवा पुण्य-पाप का भार उठाना चाहता है, वह ज्ञान का नाश करता है, अर्थात् उसे शुद्धज्ञान की श्रद्धा ही नहीं है। धर्मी तो विकाररहित ज्ञानमात्र भाव से अपने को अनुभव करता है। शुद्धदृष्टि की तरह शुद्धज्ञान भी रागादि का अकर्ता है।

क्षायिकज्ञान को अकारक-अवेदक कहा, इससे अकेले तेरहवें गुणस्थान की बात नहीं समझना चाहिए। चौथे गुणस्थान से ही जो शुद्धज्ञानपरिणमन हुआ है, वह भी क्षायिकज्ञान की तरह ही अकारक और अवेदक है। ज्ञान का स्वभाव ही रागादि का अकर्ता और

अभोक्ता है। अहो! ऐसे आत्मा का भान हुआ और मिथ्यात्व का नाश हुआ, वहाँ जीव सिद्धसदृश है। जैसे, केवलज्ञान होने पर रागादि का कर्ता-भोक्तापना किञ्चित्मात्र भी नहीं है, उसी प्रकार यहाँ भी ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है-ऐसा धर्मीजीव जानता है।

अहो! शुद्ध परमपारिणामिक आत्मस्वभाव के आश्रय से सन्त मोक्षमार्ग को साधते हैं। मोक्ष को साधनेवाले वे सन्त, सिद्ध के साधर्मी होकर बैठे हैं। संसारभावों से दूर-दूर अन्तर में सिद्ध के साधर्मी होकर वे सिद्धपद को साध रहे हैं-ऐसे वीतरागी सन्तों की यह वाणी है। स्याद्वाद की सुगन्ध से भरपूर यह वाणी, जगत् को मोक्षमार्ग बतलाती है...और जगत् के ज्ञानचक्षु खोलती है।

ज्ञायकभावरूप आत्मा, द्रव्यार्थिकनय से शुद्ध पारिणामिक परमभावरूप है, उसका यह वर्णन चल रहा है। ऐसे परमभाव की भावना से मोक्षमार्ग प्रगट होता है-ऐसा बाद में कहेंगे। यह भावनारूप मोक्षमार्ग, पर्याय है। बन्धपर्याय छूटना और मोक्षपर्याय प्रगट होना - ऐसी क्रिया, पर्याय में है; ध्रुवद्रव्य में ऐसी बन्ध-मोक्षपर्यायरूप नहीं है। ध्रुवभाव है, वह पर्यायरूप नहीं होता। पर्याय का कर्ता पर्यायधर्म है।

शुद्ध द्रव्यार्थिकदृष्टि से जीव कैसा है? सर्वविशुद्ध परम - पारिणामिकभावरूप है, शुद्ध उपादानरूप है; उसमें रागादि का कर्तृत्त्व-भोक्तृत्व नहीं है। निर्मलपर्याय या मलिनपर्याय, वह द्रव्यार्थिकनय में नहीं आती; द्रव्यार्थिकनय में तो एकरूप द्रव्य ही आता है। इस अपेक्षा से द्रव्यार्थिकनय में तो जीव को बन्ध-मोक्ष के परिणाम से रहित निष्क्रिय कहा गया है। उस समय शुद्धपर्याय है अवश्य, परन्तु द्रव्यदृष्टि में उसका भेद नहीं है। भावश्रुत प्रमाण,

द्रव्य-पर्याय दोनों को जानता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक-ये दोनों उस भावश्रुत के अंश हैं, अवयव हैं, नय हैं।

मोक्षमार्ग या मोक्ष, वह निर्मलपरिणामरूप हैं; वह त्रिकाली द्रव्यरूप नहीं है। द्रव्य को देखनेवाली दृष्टि में पर्याय गौण हो जाती है। पर्याय, पर्यायार्थिकनय का विषय है। ऐसे द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु है, यह आगे कहेंगे। 'परस्पर सापेक्ष द्रव्यपर्यायद्वय, वह आत्मपदार्थ है।' बन्ध और मोक्ष के कारण, वह दोनों पर्याय हैं। परद्रव्य तो बन्ध-मोक्ष का कारण नहीं है परन्तु जीव में अशुद्ध और शुद्धपरिणाम, वह बन्ध का और मोक्ष का कारण है। वह परिणाम, पर्यायरूप है; द्रव्यरूप पारिणामिक परमभाव तो बन्ध-मोक्ष का कारण नहीं है। यदि वह स्वयं बन्ध का कारण होवे तो त्रिकाल बन्धन हुआ करेगा, और यदि वह मोक्ष का कारण होवे तो त्रिकाल मोक्ष होगा; अथवा पारिणामिकभाव स्वयं सर्वथा पर्यायरूप हो जाए, तब तो पर्याय के साथ वह भी नष्ट हो जाएगा। यह सब न्याय आगे सरस रीति से समझायेंगे।

त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में बन्धन नहीं है; इसलिए उसे त्रिकाल मुक्तस्वरूप कहते हैं तथा उसके आश्रय से मोक्षपर्याय प्रगट होती है, इस अपेक्षा से उसे मोक्ष का कारण भी कहा जाता है। अभेदरूप से सम्पूर्ण द्रव्य को मोक्ष का कारण भी कहा जाता है। यद्यपि अभेदरूप से सम्पूर्ण द्रव्य को मोक्ष का कारण कहते हैं परन्तु मोक्ष और मोक्ष की क्रिया तो पर्याय में होती है; इसलिए मोक्ष का कारण भी पर्याय है। बन्ध और मोक्ष, ये दोनों भाव पर्याय के हैं; द्रव्य के नहीं। सम्पूर्ण द्रव्य को बन्ध अथवा मोक्ष नहीं होता। द्रव्य-पर्यायरूप पूर्ण वस्तु का यथार्थ निर्णय करना चाहिए।

धर्म का अनादर, देव-गुरु की निन्दा इत्यादि कारणों से तीव्र, दर्शनमोह, ज्ञानावरण इत्यादि कर्म बँधते हैं और पूजन-दान इत्यादि शुभकारणों से स्वर्ग की गति इत्यादि शुभकर्म बँधते हैं; बन्ध के कारणरूप ऐसे अशुद्धपरिणाम, वे शुद्धद्रव्यदृष्टि से जीव में नहीं हैं। स्वसन्मुख होकर आत्मा, सम्यग्दर्शनादि शुद्ध परिणामस्वरूप परिणमित होता है, वह मोक्ष का कारण है। वह मोक्ष-कारणरूप पर्याय भी शुद्धद्रव्यदृष्टि में नहीं आती, वह पर्यायदृष्टि का विषय है। द्रव्यदृष्टि, द्रव्य को एकरूप देखती है; इसलिए यहाँ कहा है कि 'सर्व विशुद्ध पारिणामिकपरमभाव ग्राहक शुद्ध उपादानभूत शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से जीव, कर्तृत्त्व-भोक्तृत्व से तथा बन्ध-मोक्ष के कारणरूप परिणाम से शून्य है।'

मोक्ष का कारण या मोक्ष; बन्ध का कारण या बन्ध; इन समस्त अवस्थाओं के समय ध्रुवद्रव्य तो एकरूप ऐसा का ऐसा ही है। पर्याय अनित्य है, द्रव्य नित्य है-इन दोनों की सापेक्षता से वस्तु की सिद्धि है। उसमें दो नयों को विरोध नहीं रहता। दोनों नयों के विषय भिन्न-भिन्न हैं परन्तु परस्पर सापेक्ष द्रव्य-पर्याय की सापेक्षता, वह आत्मवस्तु है।

देखो, यह आत्मवस्तु को जानने की विधि!

जो शुद्धद्रव्य को लक्ष्य में लेता है - ऐसे शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से देखने पर शुद्ध जीवद्रव्य कर्ता-भोक्ता के भावों से रहित है; शुद्ध उपादानरूप आत्मद्रव्य, राग-द्वेष से तो रहित है; और मोक्ष के कारणरूप जो परिणाम, वह पर्याय है, वह भी शुद्धद्रव्यदृष्टि का विषय नहीं है। वस्तु का परमभाव, अर्थात् ध्रुव एकरूप त्रिकाल भाव, वह पारिणामिकभाव है। वह त्रिकाली ज्ञायकभाव बन्धपरिणाम

से रहित है; इसलिए शुद्धद्रव्य में बन्ध के कारणरूप मिथ्यात्वादि विकार नहीं है और मोक्ष के कारणरूप जो शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान -चारित्र पर्याय, अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गरूप परिणाम, वह भी पर्याय का विषय है। वह उपशम आदि तीन भावोंरूप है, वह पारिणामिकभावरूप नहीं है। द्रव्य, एकरूप है, वह पारिणामिक-भावरूप है; ध्रुव स्वयं मोक्ष के कारण-कार्यरूप नहीं है, वह तो कारण-कार्यपने से पार एकरूप त्रिकाल है। वह स्वयं मोक्षमार्ग अथवा मोक्षरूप नहीं है; मोक्षमार्ग और मोक्ष, वे दोनों तो उसकी निर्मल पर्यायें हैं।

श्री समयसार, गाथा 6-7 में 'एक ज्ञायकभाव' बतलाते हुए अन्त में कहा है कि शुद्ध आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्र भी नहीं है.... तो कहीं उन ज्ञानादि गुण-पर्यायों का अभाव नहीं हो गया है, आत्मा कहीं उन ज्ञान-दर्शन-चारित्र से रहित नहीं हो गया है परन्तु आत्मा के अभेद अङ्गों में उन ज्ञानादिक के भेद दिखाई नहीं देते। समस्त गुण-पर्यायों को पी गया होने से, एकरूप शुद्ध आत्मद्रव्य ही अभेद दिखता है।

अहो! जिनमार्ग अलौकिक है। जिनमार्ग कहो या आत्मा के अनुभव का मार्ग कहो। ऐसी आत्मवस्तु को जानने से, अनुभव करने से ही सम्यग्दर्शन और वीतरागता होती है।

धर्मी की दृष्टि का ध्येयरूप शुद्ध आत्मा एकरूप है। उसमें 'यह दृष्टि और यह उसका ध्येय' - ऐसे दो भेद नहीं हैं। दृष्टि एकरूप आत्मा को ही देखती है। लो, यह दीपावली का ऊँचा माल! दीपावली नजदीक आती है न! इसलिए आत्मा को निहाल करे - ऐसा यह बौनी का माल है। यह दीपावली की उत्तम बौनी

दी जाती है। शुद्ध आत्मा को दृष्टि में लेने पर सम्यग्दर्शनादि दीपक प्रगट हुए, यही अपूर्व दीपावली है।

भगवान तेरा स्वरूप सत्, शाश्वत् ध्रुव है; उसकी सन्मुखता से मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट होती है परन्तु वह पर्याय एक समय की है और द्रव्य त्रिकाल है। अरे जीव! तेरा स्वरूप कैसा है ? – वह तो पहचान! जैसे, सर्वज्ञ परमेश्वर... वैसा तू है। बन्ध के कारणरूप मिथ्यात्वादि पापपरिणाम और मोक्ष के कारणरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणाम, ये दोनों प्रकार के भाव, एक समय की पर्यायरूप हैं। उस एक समय की पर्याय को ही देखने से सम्पूर्ण आत्मा नहीं पहचाना जाता। नित्य टिकनेवाला जो सम्पूर्ण सत्स्वभाव है, उसे देखने पर आत्मा सत्स्वरूप से प्रतीति में आता है। शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प सम्यग्दर्शन, स्वसंवेदनज्ञान और स्वरूप में स्थिरतारूप चारित्र – ऐसे जो मोक्ष के कारणरूप परिणाम हैं, वे भी पर्यायदृष्टि का विषय है; द्रव्यदृष्टि का वह विषय नहीं है।

एक पर्याय, सम्पूर्ण द्रव्य नहीं है, यह बताने के लिये ध्रुवद्रव्य को बन्ध -मोक्ष के कारण से रहित कहा है। पारिणामिकभाव, बन्ध-मोक्षपरिणाम से शून्य है, अर्थात् द्रव्य के त्रिकाली ध्रुवभाव में वे परिणाम नहीं हैं। वे परिणाम तो पर्यायभावरूप हैं। द्रव्यभाव और पर्यायभाव – ऐसे दो भावरूप (द्रव्य-पर्यायरूप) वस्तु है; वह किसी के द्वारा की गयी नहीं, परन्तु स्वभाव से ही वैसी है। वस्तु का जो अंश पलटता है, वह पर्याय और त्रिकाल टिकता है, वह ध्रुव है – ऐसी वस्तु सत् है। उस सत् की यह प्ररूपणा है। सत् वस्तु जैसी है, वैसी भगवान ने देखी है और वाणी में कही है। भगवान ने वस्तु की नहीं है परन्तु जैसी है, वैसी जानी है।

सत्वस्तु में जो ध्रुव अंश है, वह पलटता नहीं है और जो पलटता अंश है, वह ध्रुव नहीं रहता। पर्याय पलटती है और ध्रुव नहीं पलटता, वह धारावाही एकरूप रहता है। बन्ध-मोक्षरूप पर्यायें, परिणमनरूप हैं और ध्रुवद्रव्य, अपरिणामी हैं। परम -पारिणामिकस्वभाव, वह परमभाव है, उसमें बँधना और मुक्त होना – ऐसी क्रिया नहीं होती; इसलिए वह निष्क्रिय है – सदा ऐसा का ऐसा एकरूप है। ज्ञायकस्वभावी आत्मा, परम सत् है। उस सत् स्वभाव की पूर्णतारूप जो परमपारिणामिकभाव है, वह द्रव्य अपेक्षा से ध्रुव अपरिणामी है और पर्याय अपेक्षा से वह बन्ध-मोक्षरूप परिणमता है। सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान इत्यादि अनन्त गुण के निर्मल परिणाम, वे सब पर्यायरूप हैं; ध्रुव टिकता द्रव्य है, वह अपरिणामी है। ऐसी वस्तु है, वह भगवान ने देखी है और वैसी कही है। *(इसमें अर्थसमय, ज्ञानसमय, शब्दसमय, तीनों आ गये हैं। जैसी सत्वस्तु है, वैसी ज्ञान में जानी और वैसा ही वाणी में कथन आया, इस प्रकार शब्दसमय, अर्थसमय, ज्ञानसमय – इन तीनों की सन्धि है।)*

द्रव्य-पर्यायरूप आत्मा में पाँच भाव – चार पर्यायरूप और एक द्रव्यरूप बतलाकर, फिर उसमें से कौन से भाव मोक्ष के कारणरूप हैं? – यह समझायेंगे तथा ध्येयरूप कौन सा भाव है और ध्यानरूप कौन से भाव है? – यह भी बतलायेंगे।

समयसार की अमृतचन्द्रस्वामी रचित टीका का नाम आत्मख्याति है। आत्मख्याति, अर्थात् आत्मा की प्रसिद्धि। शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा को वह प्रसिद्ध करती है – उसका अनुभव कराती है और इस दूसरी जयसेनस्वामी रचित टीका का नाम

'तात्पर्यवृत्ति' है। शास्त्र का तात्पर्य क्या है, अर्थात् उसका वास्तविक सार क्या है? वह इसमें समझाया है। सर्व तत्त्वों में साररूप - प्रयोजनरूप - तात्पर्यरूप, शुद्ध आत्मा है, वह कैसा है? जिसे श्रद्धा-ज्ञान अनुभव में लेने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनन्द प्रगट हो, उसका यह वर्णन चल रहा है। सूक्ष्म पड़े तो भी ध्यान रखकर समझने जैसा है।

शास्त्र का तात्पर्य क्या? शब्दों में कहीं तात्पर्य नहीं रहा है; शब्द तो वाचक हैं, उनका वाच्य आत्मा में है। शरीर, कर्म इत्यादि परवस्तुएँ हैं, आत्मा में वे नहीं हैं; इसलिए वे आत्मा के लिये सार नहीं हैं। पुण्य-पाप भी आत्मा के स्वभाव की वस्तु नहीं हैं; इसलिए वह भी सार नहीं हैं। एक समय की पर्याय जितना या एक गुण जितना सम्पूर्ण आत्मा नहीं है; इसलिए पर्यायभेद या गुणभेद भी सार नहीं है। उनके लक्ष्य से तो राग की वृत्ति होती है। ध्रुव वस्तुरूप अखण्ड आत्मा, जिसमें भेद का विकल्प नहीं है, जिसमें रागादि का कर्तृत्व नहीं है, अथवा शरीरादि परवस्तु जिसमें नहीं है - ऐसे शुद्ध आत्मा को अनुभव में लेना, वह सार है। वही शास्त्र का तात्पर्य है और उसमें भगवान आत्मा, प्रसिद्ध होता है।

हे जीव! नित्यानन्द भगवान तू स्वयं है। तेरे स्वभाव का यह वर्णन है। सन्तों द्वारा अनुभव किये गये आत्मा का यह वर्णन है। आत्मा में दूसरा (अर्थात्, परद्रव्य) तो नहीं; एक समय की दशा है अवश्य, परन्तु वह एक समय की अवस्था स्वयं ध्रुव द्रव्यरूप नहीं है; इसलिए ध्रुवस्वभाव की दृष्टि में वह पर्याय नहीं दिखती; सदृश एकरूप वस्तु ही दिखती है। उस ध्रुववस्तु में पर्याय का कर्तापना-भोक्तापना इत्यादि नहीं है। जहाँ पर्याय ही नहीं दिखती,

वहाँ कर्ता-भोक्तापना इत्यादि क्रियाएँ कहाँ से होंगी ? वे क्रियाएँ तो पर्याय में होती हैं; द्रव्य में नहीं। तेरे अन्दर ऐसा सच्चिदानन्द परमात्मा, ज्ञान-आनन्द का महाभण्डार विराज रहा है। ऐसा भगवान आत्मा, वह किस नय से कैसा ज्ञात होता है ? वह यहाँ बताते हैं।

जो अपना ध्रुव, शाश्वत् परिपूर्ण स्वभाव है, उसे अनन्त काल में जीव ने नहीं जाना है; पर्याय के परिवर्तनशील विकारभाव जितना ही अपने को मान लिया है और उसी में अटक गया है परन्तु बापू! तेरी सम्पूर्ण वस्तु अन्दर बाकी रह गयी है। ज्ञान -आनन्द का महाभण्डार अन्दर भरा है, उसे तू भूल गया है। व्यवहारनय का विषय जाना, परन्तु शुद्धनय के विषयरूप परमार्थ को तूने नहीं जाना है, जबकि प्रयोजनभूत तो वह है।

आत्मा की पर्याय, प्रति समय पलटती है। जब वह अपने स्वभाव के लक्ष्य से एकाग्र होकर पलटती है, तब मोक्षमार्ग और मोक्षपर्याय प्रगट होती है। पर्याय अपेक्षा से देखने पर वस्तु स्वयं पलटती दिखती है और ध्रुवदृष्टि से देखने पर सदृश एकरूप शाश्वत् दिखती है।

भाई! मनुष्य अवतार प्राप्त हुआ, उसमें सर्वज्ञदेव द्वारा कथित ऐसा तेरा आत्मस्वभाव तू जान तो सही! आत्मा कैसा है, वह लक्ष्य में भी न ले तो उसमें एकाग्रता का प्रयोग कहा से होगा ? लक्ष्य को किसमें एकाग्र करने से शान्ति होती है ? किसमें लक्ष्य करने से मोक्षमार्ग प्रगट होता है ? उस वस्तु को ख्याल में लेकर, उसमें एकाग्रता का उद्यम करने से मोक्षमार्ग प्रगट होता है। उस वस्तु को यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं। **ऐसी समझ का अवसर कभी-कभी ही महान भाग्य से प्राप्त होता है।**

शरीरादि जड़ की क्रियाओं में तो आत्मा नहीं है, पुण्य-पाप में अथवा राग-द्वेष की वृत्तियों में भी आत्मा नहीं है; एक समय की निर्मलपर्याय में भी सम्पूर्ण आत्मा समाहित नहीं हो जाता। अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य से भरपूर परिपूर्ण आत्मा, अखण्ड एक ध्रुवस्वभावी है, वह परमभाव है; उसे पहचानने पर, उसके सन्मुख होने पर सम्यग्दर्शनादि होते हैं; इसके अतिरिक्त कहीं बाह्य में, राग में या शरीर की क्रिया में आत्मा को ढूँढे तो वह प्राप्त हो – ऐसा नहीं है। तुझे आत्मा को ढूँढना होवे तो देख अपने ध्रुवस्वभाव में! वहाँ तुझे चैतन्यमूर्ति, आनन्द का सागर भगवान आत्मा दिखेगा।

जहाँ चैतन्यगुणों की खान भरी है, वहाँ नजर डाले तो उसकी प्राप्ति, अर्थात् अनुभव हो, परन्तु अन्यत्र शोधे तो कैसे मिले? भाई! निर्णय तो कर कि तेरे गुणों की खान कहाँ है? तेरे गुणों की खान, राग में नहीं होती। जड़ की खान में तेरे गुण नहीं भरे होते; तेरे गुण तो तेरे ध्रुव ज्ञायकस्वभाव में भरे हैं। उस ध्रुवखान को खोदने पर (शोधने पर), उसमें से सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान के रत्न निकलेंगे। सोना चाहिए हो तो सोने की खान कहाँ है? – वह पहचान कर उस खान को खोदना चाहिए; स्वर्ण के बदले कोयले की खान खोदने लगे तो परिश्रम व्यर्थ जाता है।

उसी प्रकार जिसे ज्ञान-आनन्द चाहिए हो, उसे जानना चाहिए कि वह किस खान में भरे हैं? शरीर में ज्ञान-आनन्द नहीं भरे हैं; वह तो मल-मूत्र की खान है; पुण्य-पाप, राग-द्वेष में भी ज्ञान -आनन्द नहीं है; वह आकुलता की खान है। आनन्दकन्द ध्रुवस्वभाव ही ज्ञान-आनन्द की खान है, उसमें से अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द का प्रवाह बहता है। ध्रुव में से पर्याय आती है – ऐसा कहा जाता है

परन्तु वस्तुत: ध्रुव में ध्रुवत्वधर्म और पर्यायत्वधर्म – ऐसे दोनों धर्म अलग-अलग हैं। ध्रुव, वह ध्रुव है और पर्याय, वह पर्याय है; एक के कारण दूसरे का होना कहना, वह व्यवहार है। वस्तु स्वयं ही द्रव्य और पर्याय – ऐसे एक साथ दो धर्मोंवाली है – ऐसा अनेकान्तस्वरूप है। उस स्वरूप से पहचानने पर आत्मा प्राप्त होता है, अर्थात् अनुभव में आता है।

अहो! यह तो आत्मा की प्राप्ति का अलौकिकमार्ग है! समय-समय की पर्याय दूसरे के कारण तो नहीं, ध्रुव भी उसका कारण नहीं है; पर्याय का कारण, पर्यायधर्म स्वयं है, अर्थात् वह निरपेक्ष है। यदि ऐसा नहीं मानो तो वस्तु में द्रव्य और पर्याय – ऐसे दो धर्म सिद्ध नहीं होते। वस्तु, सामान्य-विशेषरूप अथवा द्रव्य-पर्यायरूप अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप है; उसमें दोनों धर्म एक साथ हैं। ऐसे आत्मा को जानने से पर्याय, ध्रुव चिदानन्दस्वभाव के सन्मुख झुकती है; इसलिए वह निर्मल होती है, वह धर्म है, वह मोक्षमार्ग है, वह सुख है।

आत्मा का जो सर्वविशुद्ध परमपारिणामिकस्वभाव है, वह बन्ध-मोक्षरूप नहीं है, वह तो **द्रव्यात्मलाभहेतुक** है। उस स्वभाव की दृष्टि में बन्ध-मोक्ष पर्यायें नहीं आती, वह तो द्रव्य के आत्मलाभ को ही देखती है। द्रव्य के स्वरूप का लाभ, अर्थात् द्रव्य का अस्तित्व, वह पारिणामिकभावरूप है; उस ध्रुवभाव में उदय या निर्जरा, बन्ध या मोक्ष नहीं है; इसलिए उनके कर्तृत्वरूप क्रिया भी ध्रुव में नहीं है। उत्पाद-व्ययरूप पर्याय में बन्ध-मोक्ष की क्रिया है; ध्रुव में नहीं; ध्रुव तो सहजभाव में एकरूप है।

आत्मा को समझने के लिये परिश्रम करे, अर्थात् ध्यान रखकर

उपयोग को उसमें एकाग्र करे तो आत्मा का स्वरूप समझ में आ सकता है। वस्तु स्वयं अन्दर में है और खोजने के लिये बाहर भटकता है, वह कैसे मिले? शास्त्रकार, आत्मद्रव्य के ध्रुवस्वरूप को पारिणामिकभावरूप से वर्णन करके, उसका लक्ष्य कराते हैं और रागादिक का या पर का लक्ष्य (एकत्वबुद्धि) छुड़ाते हैं। आत्मा, त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है, वह सर्वविशुद्ध है। ऐसे स्वभाव का भान करने से जो भावश्रुतज्ञान होता है, वह अपूर्व धर्म है – ऐसा भावश्रुत प्रगट करना, वह जैनशासन का सार है।

यह भगवान के घर की बात है, अर्थात् यह बात आत्मा के स्वभाव की है। यह आत्मा भी भगवान है न! भगवान, अर्थात् महिमावन्त; उसका परमस्वभाव है। क्षणिकभावों को भी परमभाव नहीं कहा, परन्तु त्रिकाल एकरूप पारिणामिकभाव को परमभाव कहा है। उसके सन्मुख होकर आत्मा का अनुभव करने से सम्यक्‌भावश्रुत प्रगट होता है। वह भावश्रुत, सम्पूर्ण आत्मा को जानता है। आत्मा का शुद्धद्रव्य कैसा, उसकी पर्याय कैसी? – उन सबको भावश्रुत का एक भाग, अर्थात् शुद्धद्रव्यार्थिकनय स्वसंवेदन से परमशुद्धभाव को ग्रहण करता है। उस स्वसंवेदनरूप भावश्रुत में शब्द नहीं, विकल्प नहीं; स्वभाव में अन्तर्मुख होने पर चैतन्य के समुद्र में से जो ज्ञान निर्झर झरा, वह भावश्रुत है। उस भावश्रुत में त्रिकाल द्रव्य को और वर्तमान पर्याय को – एक साथ दोनों को जानने की सामर्थ्य है।

जैसे – शरीर, अवयवी है और हाथ, पैर, आँख, उसके अवयव हैं; उसी प्रकार ज्ञानशरीरी आत्मा में प्रमाण, वह अवयवी और नय, वह अवयव है। ध्रुव, वह अवयवी और अवस्था, वह

अवयव है। भावश्रुतज्ञान प्रमाण, वह अवयवी और उसका द्रव्य या पर्याय को जाननेवाला भाग, वह अवयव है। उसमें से द्रव्य को मुख्य करके जाननेवाला अवयव, वह द्रव्यार्थिकनय है और पर्याय को जाननेवाला अवयव, वह पर्यायार्थिकनय है।

यह तो मानो कोई विदेश की भाषा होगी! ऐसा किसी को लगता है परन्तु भाई! यह विदेश की भाषा नहीं, यह तो स्वदेश की भाषा है, 'आत्मभाषा है।' तेरे स्वदेश में, अर्थात् आत्मा में जो भरा है, वह बतानेवाली यह आत्मभाषा है। भाषा तो वाचक है परन्तु उसका वाच्यभाव, तेरे आत्मा में भरा है। आत्मा के समक्ष नजर करे तो सब समझ में आ सकता है। अरे! अपनी ही वस्तु अपने को न समझ में आवे - यह कैसे हो सकता है? परन्तु स्वयं ने कभी स्वसन्मुख नजर ही कहाँ की है परन्तु भाई! आत्मा की यह बात समझे बिना तेरे भव का अन्त आनेवाला नहीं है। दूसरी सभी (राग-द्वेष की) बात में कोई दम नहीं है; अकेले शास्त्रज्ञान से भी भव का अन्त नहीं आता है। भावश्रुत द्वारा आत्मा को जानने पर ही भव का पार पाया जा सकता है।

आत्मा, अखण्डज्ञान, शान्ति का अखूट भण्डार है, उसमें से चाहे जितना ज्ञान और शान्ति अनुभव करो तो भी कभी कम नहीं होता। आत्मा के ऐसे परमस्वभाव को ग्रहण करनेवाला ज्ञान, वह शुद्धनय है। उस स्वभाव को त्रिकाली शुद्धउपादान भी कहते हैं। आत्मा में दो भाव हैं - एक त्रिकाली और एक क्षणिक। त्रिकाली स्वभाव, वह परमपारिणामिकभाव है; क्षणिकभाव, वे औपशमिकादिक चार भाव हैं। उनका विवेचन आगे करेंगे।

आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। सम्यग्दर्शन से उस

आनन्द के अनुभव की शुरुआत ही मोक्षमार्ग है और उसकी पूर्णता, वह मोक्ष है। इस प्रकार मोक्ष और उसका मार्ग, ये दोनों आनन्दरूप हैं; वे कष्टरूप नहीं हैं, उनमें दुःख नहीं है। ऐसे मोक्षमार्ग या मोक्ष, ये दोनों नवीन प्रगट होनेवाली अवस्थाएँ हैं। वे कैसे प्रगट हों? किसके सन्मुख देखने से प्रगट हों? - वह यहाँ बताते हैं। यह सब तेरे आत्मा में समाहित है। पारिणामिकपरमभावरूप जो त्रिकाली ध्रुवस्वभाव, उसमें दृष्टि को एकाग्र करने से सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग प्रगट होता है परन्तु ध्रुवस्वभाव स्वयं कहीं नया प्रगट नहीं होता। प्रगट पर्याय कम या अधिक, उसकी अपेक्षा ध्रुव को नहीं है; ध्रुव-शक्ति तो त्रिकाल परिपूर्ण सामर्थ्यरूप पारिणामिकभाव से विद्यमान है। ढँकना या प्रगट होना - ऐसा भेद, ध्रुव में नहीं है; वह तो पर्याय में है। ध्रुवस्वभाव तो द्रव्य के आत्मलाभरूप से सदा ही विद्यमान है।

बाह्य निमित्त, जीव को राग कराते हैं, यह बात तो है ही नहीं; यहाँ तो ज्ञानस्वभावरूप से परिणमित आत्मा, राग को कर्ता या भोक्ता नहीं है - यह बात है। शुद्धज्ञान, शुद्धउपादान, उसके त्रिकालभाव में भी राग का कर्तृत्त्व नहीं है और उसकी क्षणिक ज्ञानपर्याय में भी राग का कर्तृत्त्व नहीं है। इस प्रकार राग के अकर्तृत्वरूप से परिणमित होता हुआ आत्मा, शोभित होता है। ऐसे आत्मस्वभाव को समझे तो उपादान-निमित्त के अथवा निश्चय-व्यवहार के सब विवाद या शंकाएँ मिट जाती हैं। स्वतन्त्र चैतन्य-सत्तावाला आत्मा है, उसे द्रव्य में या पर्याय में किसी की अपेक्षा नहीं है।

शुद्धउपादानभूत आत्मा को जाननेवाला ज्ञान, वह मोक्षमार्ग है। वह ज्ञान, पर्यायों के भेद बिना एकरूप परमभाव को ग्रहण

करता है, अर्थात् त्रिकाली शुद्धद्रव्य को ग्रहण करना, वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का प्रयोजन है। ऐसे द्रव्यस्वभाव की लगन लगाकर उसमें उपयोग को जोड़ने से अपूर्व आनन्द होता है।

देखो न! संसार के रसिया जीव, विवाह में कैसा उत्साह करते हैं? यह तो आत्मा के मोक्ष के विवाह की बात है, उसमें स्वभाव को समझने का कितना उत्साह होना चाहिए! पुत्र का जन्म होता होवे, वहाँ तो मानो क्या-क्या कर दूँ! यह तो चैतन्यस्वभाव की लगन करने की बात है, उसके लिए सम्पूर्ण संसार को भूलकर आत्मा को साधना है। आत्मा को समझने के लिए और अनुभव में लेने के लिये उसकी खुमारी आना चाहिए। जैसे, नशेड़ियों को अफीम इत्यादि की खुमारी चढ़ती है; उसी प्रकार आत्मा का हित करने के लिए उसके अनुभव की ऐसी खुमारी चढ़ती है कि दुनिया का रस उड़ जाता है।

लागी लगन हमारी जिनराज.... लागी लगन हमारी....
काहू के कहे कबहूँ न छूटे, लोकलाज सब डारी,
जैसे अमली अमल करत समय लाग रही खुमारी।
लागी लगन हमारी....

जिसे भगवान आत्मा को साधने की लगन लगी, रंग चढ़ा, उसे उसकी खुमारी नहीं उतरती है। दुनिया क्या कहेगी? यह देखने के लिये वह नहीं रुकता है। आनन्दकन्द ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि लगाकर उसकी लगन से मोक्ष को साधने के लिये जागृत हुआ, वह अब मोक्ष को लेकर ही रहेगा। स्वभाव में से जो निर्मलपर्याय अवतरित हुई, वह अब वापस नहीं फिरेगी; आगे बढ़कर केवलज्ञान लेकर ही रहेगी।

देखो भाई! आत्मा की यह सच्ची विद्या ही हित करनेवाली है। लोगों को परदेश की विद्या के अध्ययन की महिमा आती है परन्तु वह तो नास्तिक और कुविद्या है। आत्मा के हित की सच्ची अध्यात्मविद्या अभी यहाँ तो अपने भारतदेश में ही है, उसकी ही सच्ची महिमा है। आत्मा की ऐसी बात कान में पड़ना भी बहुत कठिन है। कठिन है परन्तु मधुर, मीठी, अमृत जैसी है। वाह! अमृत बरसा रे प्रभु! पञ्चम काल में। यह समझने पर आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द का अमृत झरता है।

अन्दर शुद्धनयरूपी द्वार में प्रवेश करके, मोक्ष का अनुभव करने की यह बात है। शुद्धनयरूपी द्वार में प्रवेश करने से क्या दिखता है? अनन्त गुण, शुद्धपारिणामिकभाव से जिसमें वर्तते हैं – ऐसा शुद्ध जीव दिखता है। आत्मा को शुद्धद्रव्यार्थिकनय से देखने पर वह परमपारिणामिकभावरूप दिखता है। नय है, वह भावश्रुतज्ञान का अंश है और वह उपयोगात्मक है, अर्थात् शुद्ध द्रव्य को लक्ष्य में लेकर उसे ध्येय करनेवाले शुद्धनय का उपयोग उस शुद्धद्रव्य की ओर ढला हुआ है और वह पर्याय है। त्रिकाल द्रव्य का निर्णय त्रिकाल द्वारा नहीं होता है, त्रिकाल का निर्णय वर्तमान द्वारा होता है। ध्रुव वस्तु का लक्ष्य तो पलटता ज्ञान करता है; ध्रुव स्वयं कहीं ध्रुव का लक्ष्य नहीं करता। शुद्धद्रव्य त्रिकाल ध्रुव सत् है, परन्तु 'है' उसकी अस्ति का निर्णय किसने किया? निर्णय करना, वह कार्य है; ध्रुव तो कार्यरूप नहीं है, कार्यरूप तो पर्याय है और पर्याय, उपशमादिभावरूप है; ध्रुवस्वभाव पारिणामिक परमभाव है।

कर्ता-भोक्तापना, वह पर्याय का कार्य है; द्रव्यदृष्टि में वह कर्ता-भोक्तापना नहीं है। आत्मा में पर का कर्ता-भोक्तापना तो

कभी नहीं है, राग का भी कर्ता–भोक्तापना आत्मा के स्वभाव में नहीं है। अब, निर्मलपरिणाम का जो कर्ता–भोक्तापना पर्याय में है, वह भी शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में नहीं आता है क्योंकि दोनों नयों के दो विषय हैं, वे परस्पर सापेक्ष हैं। बन्ध और बन्ध का कारण; मोक्ष और मोक्ष का कारण – ये सब पर्याय में हैं; द्रव्य में नहीं। इस अपेक्षा से शुद्ध जीव को बन्ध–मोक्ष के परिणाम से शून्य कहा है। जीव में बन्धपना या मोक्षपना त्रिकाली नहीं, परन्तु क्षणिक पर्यायरूप है। शुद्धद्रव्य को देखनेवाली निर्मलपर्याय में आनन्द का कर्ता–भोक्तापना है।

शुद्ध का लक्ष्य करनेवाला निर्मलपरिणाम है, वह कहीं शून्य नहीं है, वह तो वीतरागी शान्ति की अस्तिरूप है; अनुभव में कहीं उसका अभाव नहीं होता, विकल्प का अभाव है, खेद का अभाव है परन्तु निर्मलपर्याय है, उसमें आनन्द है, उसका अभाव नहीं है। त्रिकाल का लक्ष्य करनेवाली वर्तमान पर्याय है, उसका अनुभव है; अनुभव की पर्याय, त्रिकाली शुद्धस्वभाव की ओर ढली है। शुद्धद्रव्य के लक्ष्य से / आश्रय से शुद्धपरिणाम हुए हैं परन्तु वे परिणाम शुद्धद्रव्य की दृष्टि में दिखाई नहीं देते, इस अपेक्षा से शुद्ध जीवद्रव्य को बन्ध–मोक्ष के परिणाम से शून्य कहा है और ऐसे शुद्धस्वभाव के लक्ष्य से जो शुद्धपर्याय प्रगट हुई, उसमें विकल्प की या खेद की शून्यता है। शुद्धनय से ऐसे शुद्धजीव का अनुभव, वह मोक्षमार्ग है। इस प्रकार शुद्धनय, वह मोक्ष का द्वार है, उसमें प्रवेश करने से मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है।

द्रव्य क्या–पर्याय क्या? ध्यान क्या–ध्येय क्या? स्वभाव क्या –विभाव क्या? इन सब प्रकारों को जाने बिना कितने ही कहते हैं

कि शून्य का ध्यान करना – परन्तु भाई! किसका ध्यान करेगा? सर्वथा शून्य का तो ध्यान हो नहीं सकता; सत् का ध्यान होता है। सत् कैसा है, उसकी पहचान बिना, ध्यान नहीं होता। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय में बन्ध-मोक्ष पर्याय नहीं दिखती, इस अपेक्षा से शुद्धदृष्टि से जीव को परिणाम से शून्य कहा है परन्तु जीव सर्वथा परिणामशून्य नहीं है, परिणामरहित नहीं है। द्रव्य और पर्याय को 'कथञ्चित् भिन्न' कहा है परन्तु कहीं सर्वथा भिन्न नहीं।

द्रव्य और पर्याय के प्रकार जैसे हैं, वैसे समझकर उसमें से अपने हित का कारण कौन है, अर्थात् मोक्ष का कारण कौन है? – उसकी यह बात है। 'सत्' कैसा है? – उसका निर्णय करके फिर उसका ध्यान हो सकता है।

जयसेनस्वामी रचित इस टीका का नाम **तात्पर्यवृत्ति** है। शास्त्र का तात्पर्य क्या, ज्ञान का तात्पर्य क्या, अथवा आत्मा का सारभूत स्वभाव क्या – कि जिसे लक्ष्य में लेने से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, आनन्द होता है? – ऐसे तात्पर्यरूप सारभूत आत्मस्वरूप का यह वर्णन है। यह सूक्ष्म लगे तो भी, यह मेरे आत्महित के लिए प्रयोजनभूत बात है – ऐसे लक्ष्य में लेकर, उसकी महिमा लाकर प्रयत्न करना तो अवश्य समझ में आयेगा।

अरे जीव! तुझमें तो केवलज्ञान लेने की ताकत है, तो तेरा अपना स्वरूप तुझे क्यों नहीं समझ में आयेगा? एक क्षण में समझ में आता है परन्तु उसके लिए अन्तर में गहरी लगन और आत्मा की दरकार चाहिए। यह तो जिसे जन्म-मरण से आत्मा को छुड़ाना हो और सुखी होना हो, उसके लिए बात है।

आत्मा, चेतन और शरीरादि, जड़ हैं। आत्मा से भिन्न ऐसे शरीरादि जड़-पदार्थों का जगत् में अस्तित्व है परन्तु उनरूप आत्मा परिणमित नहीं होता और पुण्य-पाप के विकल्परूप से परिणमित होने का कार्य भी शुद्धज्ञान में नहीं है। शुद्धज्ञान कहो या आत्मा कहो; अभेद से दोनों एक हैं, उसमें विकार का कर्तृत्व नहीं है। कर्तृत्व, अर्थात् परिणमन; परिणमित हो, वह कर्ता है। शुद्धज्ञानस्वरूप आत्मा, शरीर - वाणी - भाषा इत्यादि अचेतन द्रव्यरूप से तीन काल में परिणमित नहीं होता; इसलिए उनका कर्तृत्व नहीं है और शुद्धात्मा के सन्मुख जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान, परभावों से पृथक् हुआ है; इसलिए उन परभावोंरूप परिणमित नहीं होता; अत: उसमें परभावों का कर्तृत्व नहीं है।

अब, परभाव से पृथक् शुद्ध आत्मा में भी द्रव्य और पर्याय - ऐसे दो भाव हैं; उनमें से द्रव्यरूप ध्रुवस्वभाव को देखनेवाली दृष्टि में पर्याय के उत्पाद-व्यय नहीं दिखते। वह दृष्टि, एक परमभाव को ही देखती है और वह परमभाव, स्वयं बन्ध-मोक्ष के परिणामरहित है; इसलिए शुद्धद्रव्यार्थिकनय से ध्रुवस्वभाव है, उसमें शुद्धपरिणाम का भी कर्तृत्व नहीं है क्योंकि उस नय में पर्याय नहीं आती, वह तो शुद्धद्रव्य को ही देखता है। मोक्षमार्ग प्रगट होता है, वह पर्याय है; वह कहीं द्रव्य नहीं है और द्रव्य स्वयं कहीं पर्यायरूप नहीं है। वस्तु में द्रव्य और पर्याय - ऐसे दो नय के विषय पृथक् हैं।

देखो भाई! यह बात समझने योग्य है। भगवान आत्मा नित्यानन्द का नाथ अखण्ड चैतन्यवस्तु, वह सम्यग्दर्शन का विषय है, वह धर्मी का ध्येय है। उस ध्येय के ध्यान से निर्मलपर्याय प्रगट होकर

उसी में समाती है, अर्थात् एकाग्र होती है। ऐसे अखण्ड शुद्धद्रव्य को प्रतीति और अनुभव में लेकर, धर्मी जीव मोक्ष को साधता है। ध्रुव की दृष्टि में 'मैं इस शुद्धपरिणाम को करता हूँ' - ऐसा भी भेद नहीं दिखता।

आत्मा का ऐसा स्वभाव, अनुभव में आ सकने योग्य है। कोई अचिन्त्य अलौकिक विकल्पातीत स्वभाव होने पर भी, उसे स्वानुभव में लिया जा सकता है। अनन्त जीव, शुद्धात्मा का अनुभव कर-करके मोक्ष गये हैं। अरे! ऐसे मनुष्य अवतार में तुझे ऐसा परम सत्य प्राप्त हुआ; सर्वज्ञ से सिद्ध सत्य हुआ और वीतरागी सन्तों ने स्वयं अनुभव किया हुआ आत्मस्वरूप तुझे सुनने को मिला तो उसे अनुभव में लेना। श्रवणमात्र न रखकर अनुभव में लेना। अनुभव में आवे - ऐसा यह तत्त्व है। कहीं अनुभव में न आ सके - ऐसा नहीं है। इस प्रकार आत्मा को ख्याल में और अनुभव में न ले, तब तक उस जीव ने आत्मा को जाना है - ऐसा नहीं कहा जा सकता, अर्थात् वह धर्म करता है - ऐसा नहीं कहा जा सकता।

सत् शाश्वत् आत्मा जो एक ज्ञायकभाव है, वह शुभाशुभभावोंरूप परिणमित नहीं होता; इसलिए वह प्रमत्त या अप्रमत्त नहीं है। **ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो** - यह बात समयसार की छठवीं गाथा में करके, आचार्यदेव ने शुद्ध आत्मा दिखलाया है। ऐसे आत्मा को परद्रव्यों से भिन्नरूप से उपासित करना / अनुभव करना, वह मोक्षमार्ग है। तेरे उपयोग के व्यापार को ऐसे शुद्धात्मा में जोड़ तो तेरा व्यापार सफल होगा। यह व्यापार ऐसा है कि जिसमें लाभ ही होता है; कमी आती ही नहीं। ध्रुव के

लक्ष्य से व्यापार करने पर सम्यग्दर्शनादि शुद्धपर्यायों का लाभ होता है।

अहो! निर्मल चैतन्यप्रभु को पुण्य-पाप करने का काम सौंपने में तो बड़ी हानि है, उसने तो हीरा देकर कोयला लिया है। चैतन्यभाव, विकार को करे - ऐसा मानना तो चैतन्यरत्न के बदले में विकाररूपी कोयला लेने जैसा हानि का धन्धा है। भाई! तू किसका विरोध करता है? - इसका तुझे भान नहीं है। सन्त, ज्ञान और राग की भिन्नता बतलाते हैं - उसका विरोध करने से तेरे स्वभाव का ही विरोध हो जाता है, उसका तुझे पता नहीं है। बापू! राग को धर्म मानकर, तू तेरे सत् का ही विरोध करता है। ज्ञानी का भाव तो ज्ञानी के पास है, तू विरोध करे, इससे कहीं उनकी परिणति में नुकसान होनेवाला नहीं है; तेरे उल्टे भाव का नुकसान तुझे ही होगा। इसलिए यह घाटे का धन्धा छोड़... और शुद्ध आत्मा में उपयोग जोड़, जिससे आत्मा को लाभ होवे।

बन्ध-मोक्ष पर्याय, वह व्यवहारनय का विषय है। विकल्प तो व्यवहार का विषय और निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्याय के भेद भी व्यवहारनय का विषय हैं। अभेददृष्टि में वे भेद दिखायी नहीं देते; इसीलिए द्रव्यदृष्टि में जीवद्रव्य को बन्ध-मोक्ष के परिणामों से शून्य कहा है - ऐसा समझना चाहिए। वे परिणाम होते तो जीव में हैं परन्तु वे पर्याय में होते हैं, अर्थात् पर्यायनय का वह विषय हैं। बन्ध का कारण मिथ्यात्वादिभाव और मोक्ष का कारण सम्यक्त्वादिभाव, ये दोनों पर्यायें हैं; संसार भी पर्याय है और मोक्ष भी पर्याय है। पर्याय, एक समय की होती है और द्रव्य, त्रिकाल एकरूप होता है। त्रिकाली परम चैतन्यभाव पारिणामिक

–भावरूप है, वह संसार–मोक्ष से रहित है; द्रव्यदृष्टि उसे ग्रहण करती है और धर्मी उसे ध्याता है।

आठ प्रकार के अशुभ या शुभ जड़कर्म और उनके बन्धन के कारणरूप अशुभ या शुभभाव का कर्ता–भोक्तापना ज्ञानी के ज्ञानभाव में नहीं है। ज्ञानी तो शुद्धवस्तु के सन्मुख होकर अपने शुद्धभाव को ही करता है और भोगता है। प्रभु! तेरी वस्तु की यह वार्ता तेरे कान में पड़ती है, उसे लक्ष्य में तो ले। अपना स्वरूप कैसा है? उसके निर्णय बिना तू धर्म किसमें करेगा? तेरे स्वरूप के भ्रम से तू दुःख में भटक रहा है। उससे छूटने की यह विधि तुझे समझाते हैं।

तेरी पर्याय में, तेरी भूल से तुझे बन्धन है, तब तो उससे छूटनेरूप मोक्षमार्ग का उपदेश तुझे देते हैं। यदि बन्धन होता ही नहीं, तो मोक्ष के लिए अपने शुद्धात्मा को तू समझ – ऐसा उपदेश किसलिए देते? पर्याय में बन्धन है, उससे छूटने का उपाय है परन्तु उतना ही सम्पूर्ण आत्मा नहीं है। उन पर्यायों के समय ही परिपूर्ण ध्रुवस्वभाव अनन्त शक्तियों से भरपूर है, उसका लक्ष्य करने से बन्धन मिटते हैं और मोक्ष प्रगट होता है। इस प्रकार अपने आत्मा में जो भाव हैं, उनका थोड़ा सा वर्णन किया है। 'थोड़ा लिखा... बहुत करके जानना' शब्दों में तो कितना आयेगा? उनका वाच्यभाव पकड़कर अन्दर में अनुभव करे, तब पार पड़े ऐसा है।

जड़ का सम्बन्ध, विकार या भेद – यह सब व्यवहारभाव जानने योग्य है परन्तु शुद्धजीव के अनुभव में भेद नहीं है। अनुभव में निर्मलपर्याय प्रगट अवश्य होती है परन्तु वह अभेद हो जाती है, उसका भेद नहीं रहता। वेदान्त / अद्वैत मतवाले कहते हैं कि आत्मा में पर्याय सर्वथा है ही नहीं – यह तो एकान्त है, उनके जैसा

यह नहीं है। यह तो भगवान सर्वज्ञदेव द्वारा कथित द्रव्य-पर्यायरूप अनेकान्त वस्तु को दो नयों से देखने की बात है। दोनों नयों से यथार्थ वस्तुस्वरूप का ज्ञान करके, फिर किस तरफ ढलने से धर्म होता है ? - यह बात अलौकिक रीति से आचार्य भगवन्तों ने जिनशासन में समझायी है।

अहो! यह तो लोकोत्तरमार्ग है! यह मार्ग भले ही दुनिया से अलग है परन्तु भगवान के मार्ग के साथ मेलवाला है। दुनिया भले ही कुछ भी कहे, परन्तु प्रभु के मार्ग में तो सन्त पहले हैं; प्रभु को वे प्रिय हैं। शुद्धस्वभाव समझनेवाले सन्तों को भगवान ने मोक्षमार्ग में स्वीकार किया है... यही भगवान की प्रसन्नता है। जगत् के लोग प्रसन्न हों या न हों, परन्तु जो जीव, सर्वज्ञ के इस मार्ग में आया है, वह मोक्ष प्राप्त करेगा।

मोक्षमार्गपर्याय, नयी प्रगट होती है परन्तु सम्पूर्ण आत्मवस्तु कभी नयी प्रगट नहीं होती, तथा ध्रुवस्वभाव की अपेक्षा से वस्तु कूटस्थ / अपरिणामी है परन्तु पर्याय अपेक्षा से तो वस्तु स्वयं परिणमित होती है; वह कहीं सर्वथा कूटस्थ / अपरिणामी नहीं है। द्रव्यदृष्टि के विषय में उत्पाद-व्यय नहीं आते; सम्पूर्ण ध्रुवतत्त्व एक समय के उत्पाद-व्ययरूप नहीं हो जाता - ऐसा वस्तुस्वरूप लक्ष्य में लेने से पर्यायबुद्धि छूट जाती है और अभेदस्वभाव के अनुभवरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में मोक्षमार्ग की पूर्णता होती है और उस पर्याय का व्यय होने पर, मोक्षदशा प्रगट होती है।

पहले बन्धमार्ग था और मोक्षमार्ग हुआ, तत्पश्चात् मोक्षमार्ग -पर्याय गयी और मोक्ष-पर्याय हुई - ऐसे टुकड़े-टुकड़े (भेद से)

देखने से धारावाहीरूप सम्पूर्ण शुद्ध जीवद्रव्य दिखायी नहीं देता। पर्याय के भेद गौण करके अखण्ड ध्रुवस्वभाव के सन्मुख देखने से, सम्पूर्ण शुद्धजीवद्रव्य प्रतीति में-अनुभव में आता है - ऐसा अनुभव करनेवाले को नित्य और अनित्य के बीच का विरोध मिट जाता है। दो नयों के एकान्त का विरोध मिटकर अनेकान्तस्वभाव का यथार्थ ज्ञान होता है।

देखो, यह सच्चे आत्मा को देखने की विधि! ऐसे आत्मा को देखने से अपने में ही परमात्मा का साक्षात्कार होता है। अपना स्वरूप अन्दर में विचार करने योग्य है।

बन्ध-मोक्ष, आत्मा की पर्याय में है, बस! अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि अवस्था सिद्ध को भी है परन्तु अखण्ड द्रव्य की दृष्टि में वे पर्याय-भेद साधक को दिखलायी नहीं देते। एक-एक पर्याय के भेद को देखने से वह सम्पूर्ण द्रव्य प्रतीति में नहीं आता। जैसे, किसी एक पुरुष के पैर की एक अँगुली में पतला डोरा बँधा हो, वह बन्ध अवस्था कहलाती है और वह डोरा छोड़ा तो वह मुक्त अवस्था कहलाती है परन्तु क्या सम्पूर्ण पुरुष बँधा है या छूटा है? नहीं; उसका एक अंश बन्धरूप था और अंश छूटा है; उस बन्ध-मोक्ष जितना ही कहीं सम्पूर्ण पुरुष नहीं है। 'बँधा हुआ, वह पुरुष' - ऐसी अकेली बन्ध अवस्था से पहचानो तो सम्पूर्ण पुरुष नहीं पहचाना जाएगा। अकेली छुटकारे की अवस्था से पहचाना तो भी सम्पूर्ण पुरुष नहीं पहचाना जा सकेगा। बन्ध या मोक्ष, दोनों अवस्थाओं के समय एकरूप स्थायी रहनेवाले उसके स्वरूप को देखो तो उस पुरुष की सच्ची पहचान होती है। इसी प्रकार जीव / पुरुष, अर्थात् यह चैतन्यस्वरूप आत्मा, उसे एक

क्षणिक अंश में / पर्याय में बन्धन था और उसका अभाव होने पर पर्याय में मोक्षदशा प्रगट हुई परन्तु उस बन्ध अवस्था जितना कहीं सम्पूर्ण जीव नहीं था और मोक्षदशा जितना भी सम्पूर्ण जीव नहीं है। बन्ध और मोक्ष दोनों अवस्था के समय एकरूप कायम रहनेवाले, परिपूर्ण स्वभावरूप से पहचानने पर, जीव के वास्तविक स्वरूप की पहचान होती है।

आत्मा का जो परमात्मस्वरूप है, वह स्वरूप अभी भी ऐसा का ऐसा विद्यमान है। उस परमार्थस्वरूप के अवलम्बन से संवर, निर्जरा, और मोक्षदशा प्रगट होती है और आस्रव-बन्ध का अभाव होता है परन्तु प्रगट हुआ और अभाव हुआ - उसकी अपेक्षा ध्रुव परमार्थस्वरूप में नहीं है; इसलिए ध्रुवभावरूप द्रव्य, बन्ध-मोक्ष के परिणाम से रहित है - ऐसा कहा है। वह सम्यग्दर्शन का विषय है; उसमें राग का आश्रय नहीं है। राग से भिन्न होकर ऐसे आत्मस्वभाव को अनुभव में लेना, वह मोक्षमार्ग है। वह पूर्ण आनन्द की प्राप्ति का उपाय है।

आत्मा, एक अखण्ड वस्तु है। उसकी स्वसत्तारूप सहज स्वभाव की अस्ति में दूसरा कोई कारण नहीं है। वह पारिणामिकभाव से अनादि-अनन्त है, और उसकी पहचान से शुद्धता तथा आनन्द प्रगट होता है।

❖ हे जीव ! तुझे आनन्द चाहिए है न ?.... हाँ।

❖ वह अपूर्ण चाहिए या पूर्ण ?.... अपूर्ण नहीं, किन्तु पूर्ण।

❖ वह शाश्वत चाहिए या क्षणिक ?.... सदा रहे - ऐसा चाहिए।

तो सदा टिके, ऐसा पूर्ण आनन्द कहाँ से आयेगा ?

✦ क्या शरीर में से अथवा पर में से वह आनन्द आयेगा ?

नहीं; उनमें आनन्द है ही नहीं।

✦ तो क्या राग में से-पुण्य में से वह आनन्द आयेगा ?

नहीं ! उनमें आकुलता है; उनमें आनन्द नहीं है।

✦ अब, एक समय की ज्ञानादि पर्याय, उसका आश्रय करने से भी स्थायी आनन्द नहीं आता, क्योंकि वह स्वयं क्षणिक है।

इसलिए जो स्वयं शाश्वत् टिकता हो और जिसमें पूर्ण आनन्द भरा हो – ऐसी वस्तु का अवलम्बन करने से ही सदा रहनेवाला पूर्ण आनन्द अनुभव में आ सकता है; इस प्रकार पर्याय को अन्तर्मुख अभेद करके अपने अतीन्द्रिय आनन्दमय पारिणामिकपरमस्वभावी आत्मा को शुद्धनय से अनुभव करने पर, आनन्द की प्राप्ति होती है। धर्मात्मा, ऐसे आनन्द का जीवन जीता है। अपने सहजस्वभाव में जीव त्रिकाल जीता है। ऐसे शुद्धजीव को लक्ष्य में लेनेवाला शुद्धनय तो पर्याय है परन्तु उसने नजर ध्रुव पर की है। शुद्धनय स्वयं उपयोगात्मक पर्याय है परन्तु त्रिकाली सहजस्वभाव को ध्येय बनाकर उसमें वह अभेद हुई है। वह पर्याय, राग में नहीं अटकती है; राग में अटकी हुई पर्याय से शुद्ध द्रव्य का निर्णय नहीं होता, परन्तु राग से भिन्न होकर शुद्धद्रव्य की ओर डूबी हुई पर्याय से ही त्रिकाली शुद्धद्रव्य का निर्णय होता है। निर्णय करनेरूप कार्य पर्याय में होता है; ध्रुव में वह निर्णय नहीं होता, क्योंकि ध्रुव स्वयं कार्यरूप नहीं है। ज्ञान की दशा, त्रिकाली स्वभाव के सन्मुख हुई, तब सच्चा निर्णय आत्मा में और अनुभव में आया... और वह जीव, मोक्ष के पन्थ में उमङ्गशील हुआ –

ऐसा मार्ग वीतराग का कहा श्री भगवान....

वस्तु स्वभाव का निर्णय पर्याय करती है परन्तु वह पर्याय, ध्रुव का अवलम्बन करनेवाली है। अभेदस्वभाव के अवलम्बन के जोर से धर्मी की पर्याय, निर्मलरूप से परिवर्तित होती है और अज्ञानी की पर्याय, राग के अवलम्बन के द्वारा अशुद्धरूप से पलटा खाती है। पर्याय तो दोनों की पलटती है परन्तु स्वभाव का अवलम्बन करने से वह शुद्ध होती है और परभाव का अवलम्बन करने से अशुद्ध होती है। पर के कारण तो किसी की पर्याय नहीं होती है।

वस्तु, द्रव्यरूप से त्रिकाल, उसके सहजस्वभावरूप गुण त्रिकाल और पर्यायें प्रति समय बदलनेवाली हैं। वस्तु में प्रत्येक समय पर्याय होती अवश्य है; एक की एक पर्याय कायम नहीं टिकती; नयी-नयी हुआ करती है। वस्तु परिणामस्वभाववाली है, वह सर्वथ कूटस्थ नहीं है; पर्यायरहित अकेला कूटस्थ-ध्रुव नहीं हो सकता। वस्तु में ध्रुवत्व टिक कर नयी-नयी पर्यायरूप परिणमन होता है। पर्याय बदलती है; द्रव्य नहीं बदलता - ऐसा वस्तुस्वभाव है। सर्वज्ञदेव ने ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशित किया है। भाई! जैसा तू है, वैसा लक्ष्य में तो ले! अहो! चैतन्यवस्तु का परम-स्वभाव कोई अद्‌भुत और आश्चर्यकारी है।

धर्मी जीव, अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जानकर, उसी को भाता है। भाता है, अर्थात् ध्याता है। वह भावना करता है पर्याय द्वारा, परन्तु पर्याय के खण्ड पर, भेद पर लक्ष्य रखकर भावना नहीं करता। अभेद को ही लक्ष्य में लेकर भाता है कि अखण्ड एक शुद्ध परमभावरूप निज परमात्मद्रव्य मैं हूँ। एक वस्तु में खण्ड क्या? अखण्ड में पर्याय को एकाग्र करके ध्याता है, वहाँ

'मैं ध्यान करनेवाला और यह मेरा ध्येय' – ऐसा ध्यान-ध्येय का भेद नहीं रहता है। ध्येय और ध्याता – ऐसे दो खण्ड पर लक्ष्य जाने से विकल्प उत्पन्न होता है और वहाँ सच्चा ध्यान नहीं होता। ध्यान में एक अखण्ड तत्त्वरूप से आत्मा प्रकाशित होता है। अहो! ऐसे आत्मा को पहचानना और ध्याना, वह महान प्रयोजनरूप है।

चैतन्यवस्तु का परमस्वभाव ध्यानगम्य है, विकल्पगम्य नहीं। भाई! ऐसा तेरा स्वरूप तुझे समझनेयोग्य है, सरल है; दूसरा सब लक्ष्य छोड़कर तेरे स्वभाव की महिमा लाकर, इस तेरी वस्तु को समझ! तेरी साधकदशा या सिद्धदशा, वह तेरी पर्याय में है। पर्याय में वह नहीं है – ऐसा नहीं है; पर्याय में तो है परन्तु अभेद के ध्यान में वह पर्याय पृथक् नहीं दिखती है।

ध्रुवरूप ध्येय में एकाग्र हो जाए, उसका नाम ध्यान। उस ध्यान में आत्मा कहीं सर्वथा शून्य हो जाए – ऐसा नहीं है अथवा पर्याय से सर्वथा भिन्न पड़ जाए – ऐसा नहीं है। यदि पर्याय हो ही नहीं तो ध्रुव को ध्याया किसने? पर्याय है अवश्य, परन्तु अभेद ध्यान में उसका भेद नहीं दिखायी देता। वेदान्त इत्यादि तो पर्याय का अस्तित्व ही नहीं मानता; इसलिए उन्हें तो ध्येय, ध्यान, मोक्षमार्ग, मोक्ष – ऐसा कुछ है ही नहीं। उसमें और इस बात में जरा भी समानता नहीं है। दोनों में पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर है। 'यह ध्रुव की बात वेदान्तवाले सुनें तो प्रसन्न हो जाएँ' – ऐसा कोई कहता है तो वह इस जैन सिद्धान्त के रहस्य को जरा भी नहीं समझा है। वह तो गृहीतमिथ्यात्व में खड़ा है।

भाई! यह तो जैन परमेश्वर द्वारा कथित अपूर्व बात है, इसमें पर्याय के स्वीकारपूर्वक द्रव्यस्वभाव की बात है। द्रव्य-पर्यायरूप

अनेकान्तस्वभाववाली वस्तु है, उसे द्रव्यदृष्टि से देखते समय पर्याय दिखलायी नहीं देती, अर्थात् गौण हो जाती है परन्तु वस्तु में पर्याय है ही नहीं – ऐसा नहीं है। पर्याय तो वस्तु के अस्तित्व का निर्णय करती है। वस्तु ऐसी है – ऐसे निर्णय का काम, पर्याय नहीं हो तो किसमें होगा ? ध्रुव का निर्णय कहीं ध्रुव स्वयं नहीं करता; ध्रुव का ध्यान, ध्रुव के द्वारा नहीं होता; पर्याय उसमें एकाग्र होकर उसे ध्याती है। वहाँ 'यह ध्याता और यह ध्येय' – ऐसा भेद नहीं रहता; अभेद हो जाता है, इसका नाम मोक्षमार्ग है।

आत्मा की पर्याय में बन्ध–मोक्ष के परिणाम होते हैं, उन्हें भी जो नहीं समझता, उसे तो कुछ सूझे – ऐसा नहीं है, अर्थात् बन्ध के अभाव का और मोक्ष के साधने का कुछ भी उसे नहीं रहता। वेदान्तमती को तो पर्याय का ही कहाँ निर्णय है ? मेरी पर्याय मुझमें होती है, इतना भी निर्णय जिसे नहीं हो, उसे द्रव्यस्वभाव का निर्णय सच्चा नहीं होता। यहाँ तो उत्कृष्ट बात है। मोक्ष, किस भाव से सधता है और उसमें ध्येयरूप वस्तु कैसी है ? वह यहाँ बतायेंगे।

पर्याय भले ही बदले, परन्तु वह ध्रुव के आश्रय से ही पलटती होने से निर्मल–निर्मल हुआ करती है। यदि रागादि का आश्रय करके बदले, तब तो वह अशुद्ध होगी। निर्णय, अनुभव या ध्यान, वह पर्याय है। मोक्ष को साधने के लिए क्या करना ? उत्पाद –व्ययरूप पर्यायभेदों का ध्यान छोड़कर, ध्रुव अभेद परमस्वभाव को ध्याना – मोक्ष साधने की यह विधि है।

सम्पूर्ण वस्तु एक समय की पर्याय जितनी ही नहीं है, तथापि स्वसन्मुख पर्याय में आत्मा स्वयं गुप्त रह सके – ऐसा नहीं है। गुप्त नहीं रह सके, अर्थात् क्या ? यही कि स्वसंवेदन ज्ञान में प्रगट

प्रतिभास हो, उसमें आत्मा गुप्त नहीं रहता, अर्थात् अप्रगट नहीं रहता, परोक्ष नहीं रहता, गुप्त नहीं रहता, छिपा हुआ नहीं रहता; प्रगट अनुभव में आता है – ऐसा आत्मा का स्वभाव है। ऐसे आत्मा का अनुभव, वह अजर प्याला है... उसे पचाने से जीव अमर होता है। मोक्षदशा प्रगट होने के बाद सादि-अनन्त काल ऐसी की ऐसी रहती है। परवस्तु, राग अथवा पर्यायभेद के लक्ष्य में नहीं अटकते हुए, जो परम आनन्द के ध्येयधाम में चढ़ा है, वह जीव, मोक्ष प्राप्त करता है।

अब, ऐसी मोक्षदशा का कारण क्या है ? जीव के पाँच भावों में से कौन-से भाव, मोक्ष का कारण हैं – यह बतलाते हैं।

औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक – ये पाँच भाव हैं। उनमें औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक – ये चार भाव, पर्यायरूप हैं और शुद्ध पारिणामिकभाव, द्रव्यरूप है। ऐसे परस्पर सापेक्ष द्रव्य-पर्यायस्वरूप आत्मवस्तु है। द्रव्य-पर्याय दोनों का जोड़ा, वह आत्मपदार्थ है।

उपशम आदि चार भाव, प्रगटरूप हैं, पर्यायरूप हैं। उनमें उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक – ये तीन भाव निर्मल पर्यायरूप हैं और औदयिकभाव, विकारी पर्यायरूप है तथा जो परमपारिणामिक -भाव है, वह द्रव्यरूप है, वह आत्मा का अहेतुक सहजस्वभाव है; सहज ज्ञान-आनन्द आदि अनन्त स्वभाव, पारिणामिकभावरूप त्रिकाल हैं। ऐसे स्वभाव को देखनेवाला ज्ञान, वह मोक्षमार्ग है।

औपशमिकभाव – जब अनादि का अज्ञानी जीव, सर्व प्रथम अपने स्वभाव का भान करता है, तब चौथे गुणस्थान में उसे

औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है और इस औपशमिकभाव से धर्म का प्रारम्भ होता है; फिर चारित्र में उपशमभाव, उपशमश्रेणी के समय मुनि को होता है। उपशमभाव, यह निर्मलभाव है, इसमें मोह का वर्तमान उदय नहीं है, तथा उसका सर्वथा क्षय भी नहीं हो गया है परन्तु जैसे नितरे हुए स्वच्छ पानी में नीचे कीचड़ बैठ गया हो, वैसे ही सत्ता में कर्म पड़ा है – जीव की ऐसी निर्मलपर्याय को औपशमिकभाव कहते हैं।

क्षायोपशमिकभाव – इस भाव में किञ्चित् विकास और किञ्चित् आवरण है। ज्ञानादिक का सामान्य क्षयोपशमभाव तो सभी छद्मस्थ जीवों को अनादि से होता है परन्तु यहाँ मोक्ष के कारणरूप क्षयोपशमभाव बतलाना है; इसलिए सम्यग्दर्शनपूर्वक का क्षयोपशमभाव लेना।

क्षायिकभाव – आत्मा के गुणों की सम्पूर्ण शुद्धदशा प्रगट हो और कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाए – ऐसी दशा, वह क्षायिकभाव है।

यह तीनों भाव, निर्मल पर्यायरूप हैं; ये अनादि से नहीं होते, परन्तु आत्मा की पहचानपूर्वक नये प्रगट होते हैं और ये भाव, मोक्ष के कारणरूप हैं – ऐसा आगे समझायेंगे।

औदयिकभाव – जीव का विकारभाव, जिसमें कर्म का उदय निमित्त होता है। अनादि से समस्त संसारी जीवों को औदयिकभाव होता है। मोक्षदशा होने पर उसका सर्वथा अभाव होता है। औदयिकभाव शुभ-अशुभ अनेक प्रकार के हैं, वे कोई भाव, मोक्ष का कारण नहीं होते। धर्मी जीव अपने ज्ञान को औदयिकभावों से भिन्न अनुभव करता है।

पारिणामिकभाव – आत्मा का त्रिकाली सहज एकरूप स्वभाव, उसे परमभाव कहा है; अन्य चार भाव क्षणिक हैं, इसलिए उन्हें परमभाव नहीं कहा है। पारिणामिकरूप परमस्वभाव प्रत्येक जीव में सदा विद्यमान है।

अरे! यह तो परम सत्य है; परम अमृत ऐसे आत्मस्वरूप का वर्णन है। यह तेरे भावों का वर्णन है, तेरे भावों में किस प्रकार से आवरण है और किस प्रकार से विकास है? – यह उसकी बात है।

पाँच भावों में उपशमभाव को सबसे पहले कहा है क्योंकि मोक्षमार्ग की शुरुआत ही उपशमभाव से होती है। अन्दर रागरहित शान्त अकषायस्वरूप के वेदन से आत्मा को उदय से भिन्न जाना, तब उपशमभाव प्रगट हुआ और तब उदयभावों को ज्यों का त्यों जाना। उपशमभाव के बिना उदय को भी जानेगा कौन? भेदज्ञान के बिना तो उदय को जानते ही, उदयभाव को ही अपना स्वभाव मान लेता था। अब, उससे भिन्नता जानने पर, मोक्षमार्ग प्रारम्भ हुआ है। उपशमभावसहित हुआ सम्यग्ज्ञान ही उदय को यथार्थ जानता है। तत्त्वार्थसूत्र में भी पाँच भावों के कथन में पहले उपशमभाव लिया है।

जैसे, सर्प को पकड़ने के लिए पहले उसे ठारे, अर्थात् उस पर पानी छिड़ककर उसे शान्त करे, अथवा जैसे मलिन पानी में औषधि डालकर उसे स्वच्छ करे, कीचड़ नीचे बैठ जाये; उसी प्रकार अनादि से कषायों में वर्तता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव, प्रथम तो उन कषायों को ठारता है। कषायों को तथा मिथ्यात्व को ठारकर, अर्थात् उपशम करके औपशमिकसम्यग्दर्शन प्रगट करता है। मिथ्यात्व में से सीधा क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होता है, सबसे पहले

उपशम होता है और फिर क्षायोपशमिकपूर्वक क्षायिकसम्यक्त्व होता है।

धर्म प्राप्त करनेवाले जीव को पहले उपशमसम्यक्त्व ही होता है। वह चारों गति में हो सकता है। सातवें नरक में भी असंख्यात जीव, वहाँ जाने के बाद उपशमसम्यक्त्व नया प्रगट करनेवाले हैं। चार गति में कोई भी अनादि मिथ्यादृष्टि जीव, सर्व प्रथम निर्विकल्प आत्मानुभव करता है, वह उपशमसम्यक्त्वसहित होता है। चैतन्य को पकड़ कर उसने अकेला पुरुषार्थ किया और मोह को दबा दिया। उसे दर्शनमोहकर्म वर्तमान प्रगट नहीं होता तथा उसका सर्वथा क्षय भी नहीं हुआ है। मिथ्यात्व की अनुद्भूति, वह उपशमसम्यक्त्व है।

यह उपशम आदि तीन भाव, जीव की निर्मलपर्याय हैं। क्षायिक आदि भाव, जीव को नहीं हैं – ऐसा कहा तो उसका यह अर्थ, वे पर्यायें, जीव में नहीं हैं – ऐसा नहीं है परन्तु उसका अर्थ तो यह है कि जीव में द्रव्यरूप से वे भाव नहीं हैं परन्तु पर्यायरूप से हैं। वस्तु में द्रव्य, वह पर्याय नहीं है; पर्याय, वह द्रव्य नहीं है। पाँच भावों में से चार भाव तो पर्यायरूप हैं और एक द्रव्यरूप है।

पाँच भावों में से औदयिकभाव, मोक्ष का कारण नहीं है; औपशमिकादि तीन भाव, मोक्ष का कारण हैं और पाँचवाँ भाव, पारिणामिकभाव है, वह द्रव्यरूप है, वह बन्ध-मोक्ष का कारण नहीं है। चार भाव, क्रियारूप हैं, अर्थात् उत्पाद-व्ययरूप हैं और पाँचवाँ भाव, निष्क्रिय है, अर्थात् एकरूप ध्रुव है। द्रव्य और पर्याय दोनों होकर वस्तु है। द्रव्य, वह निश्चय और पर्याय, वह व्यवहार है। दोनों होकर प्रमाणवस्तु सत्; उसमें द्रव्य, वह द्रव्यार्थिकनय का

विषय है और पर्याय, वह पर्यायार्थिकनय का विषय है परन्तु वे दोनों पर से तो भिन्न ही हैं – ऐसी सत् वस्तु के भावों का यह वर्णन है।

अरे बापू! वाद-विवाद छोड़कर ऐसी आत्मवस्तु के विचार में और मन्थन में रहे तो कोई अपूर्व चीज हाथ में आयेगी। भाई! जीवन के प्रत्येक समय की महान कीमत है। अरे! मनुष्यभव का यह अवसर ऐसा का ऐसा चला जाए तो उसकी क्या कीमत! इस मनुष्यभव के एक-एक क्षण में भव के अभाव का कार्य करने योग्य है। कहीं भव बढ़ाने के लिए यह मनुष्य -अवतार नहीं है परन्तु भव का अभाव करने के लिए यह मनुष्य-अवतार है। यदि मनुष्यभव प्राप्त करके यह कार्य नहीं किया तो दूसरे भवों में और इस भव में क्या अन्तर है ? अनन्त भव चले गये, इसी प्रकार यदि यह भव भी चला जाएगा तो आत्मा का हित कब करेगा ? इसलिए सावधान होकर अपनी आत्मा का स्वरूप समझ।

आत्मा, पर से तो अत्यन्त भिन्न है; इसलिए पर के साथ कोलाहल की बात तो दूर रही, यहाँ तो कहते हैं कि अपने में एक पर्याय का भेद करके उसके लक्ष्य में अटके तो भी सम्पूर्ण वस्तु लक्ष्य में नहीं आती है। भाई! तेरी वस्तु सत् है, वह तेरे द्रव्य-पर्यायरूप है; पर के साथ तुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। तुझमें जो द्रव्य और पर्याय, सत् है, उसकी यह बात है; उसे तू विचार में तो ले – तेरे अपने घर की वस्तु को तू लक्ष्य में तो ले।

जीव के मिथ्यात्व, रागादिभाव-उदयभाव या केवलज्ञानादिक -क्षायिकभाव, ये सब भाव, पर्याय कोटि में आते हैं और ध्रुवरूप शुद्धपरमभाव, वह द्रव्य कोटि में आता है। वज्र जैसा वह सहजभाव,

कभी हिलता नहीं–डुलता नहीं, अर्थात् उत्पाद–व्ययरूप नहीं होता। चारों भाव, क्षणिकपर्यायरूप हैं, वह क्षण–क्षण में पलटती है। इस प्रकार आत्मा में द्रव्यरूप और पर्यायरूप भाव हैं। ऐसे द्रव्य –पर्याय, दोनों स्वरूप आत्मवस्तु है। एक ही वस्तु में द्रव्य और पर्याय, दोनों परस्पर सापेक्षरूप से रहे हुए हैं; इसलिए द्रव्य–पर्याय का जोड़ा, वह वस्तु है।

सुमति और कुमति (ज्ञान), दोनों पर्याय हैं। उनमें सुमति, वह आत्मा की सच्ची परिणति है और कुमति, वह आत्मा की सच्ची परिणति नहीं है, तथापि दोनों परिणतियाँ समय–समय के परिणमनवाली हैं; गुण और द्रव्य ध्रुव रहते हैं। संसारपर्याय एक समय की है, इसी तरह सिद्धपर्याय भी एक समय की है; वह भले ही सादि–अनन्त काल तक ऐसी की ऐसी हुआ करे; इसलिए उसे ध्रुवगति भी कहा है परन्तु वह कहीं त्रिकाली द्रव्य–गुणरूप पारिणामिकभाव से नहीं है परन्तु क्षायिकभावपने है। द्रव्य–गुण नये नहीं प्रगट होते, मोक्षपर्याय तो नयी प्रगट होती है। जो प्रगट होती है, वह पर्याय और जो टिकते हैं, वे गुण। गुण में कभी आवरण नहीं होता; द्रव्य–गुण तो सदा निरावरण हैं। आवरण होना और प्रगट होना, वह पर्याय में है। वस्तु में द्रव्यरूप जो पारिणामिकभाव है, उसमें हीनाधिकपना नहीं होता; उत्पन्न होना या विनष्ट होना नहीं होता; आच्छादन होना या प्रगट होना नहीं होता। यह सब तो पर्याय में है; इसलिए चार भाव, पर्यायरूप हैं।

भाई! तेरी आत्मवस्तु के ऐसे भावों को जान तो तुझे पता पड़ेगा कि धर्म कहाँ से आयेगा? तेरा धर्म, अर्थात् तेरा मोक्षमार्ग बाहर से नहीं आता। तेरा धर्म, तेरी वस्तु में ही है और उसमें भी

पाँच भावों में से तीन भाव, मोक्ष का कारण होते हैं, यह बात यहाँ समझाते हैं।

एक द्रव्यरूप त्रिकाल धर्म और दूसरा पर्यायरूप वर्तमान धर्म है। त्रिकाल धर्म, द्रव्यरूप है, वह तो सदा है ही; इसलिए उसमें कुछ करने का नहीं है। पर्यायरूप वर्तमान धर्म जो कि मोक्ष का कारण है, वह नया प्रगट होता है – ऐसे द्रव्यधर्म और पर्यायधर्म, दोनोंरूप आत्मपदार्थ है। आत्मवस्तु ऐसे अनेकान्तस्वरूप है। ऐसे आत्मा को पहचान बिना धर्म नहीं होता है।

आत्मा, स्वयं चैतन्यसत्ता है परन्तु 'मैं हूँ' – ऐसा निर्णय कब हुआ? जब अपनी अवस्था अन्दर स्वभावसन्मुख ढली, तब पता पड़ा कि मैं यह चैतन्यसत्ता हूँ। दशा स्वयं दशावान में ढली, तब अपने अस्तित्व का निर्णय हुआ कि मैं सत्स्वरूप आत्मा अनादि –अनन्त परमभावरूप हूँ। ऐसे परमभाव को ग्रहण करनेवाली पर्याय, वह क्षायोपशमादिक तीन भावरूप है, उसे 'परमभाव' नहीं कहते हैं। पर्याय को अन्तर्मुख करके परमभावरूप आत्मा के अनुभव के बिना, मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता और जन्म–मरण का अन्त नहीं आता।

जिसे संसार के दु:ख से छूटना हो, उसे ऐसा स्वरूप समझना चाहिए। न समझ में आये, इसलिए उद्यम छोड़ दे – ऐसा नहीं चलता, क्योंकि आत्मा की शान्ति या सुख का इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है। शीघ्र न समझ में आये तो अधिक पात्रता करके अधिक उद्यम करना। अपनी वस्तु अपने को समझ में आने योग्य है। भाई! यह तो मोक्ष के दरवाजे में प्रवेश करके मोक्ष का अनुभव करने के लिए उत्कृष्ट बात है। यह कोई लौकिक बात

नहीं है। उत्कृष्ट बात है तो उसे समझने के लिए प्रयत्न भी उत्कृष्ट, अर्थात् अपूर्व ही होगा।

भाई! आत्मा के स्वघर में भरा हुआ वैभव, सन्त तुझे बतलाते हैं। तेरे अपने घर में जो चीज है, उसकी यह बात है। अपने स्वघर में आए बिना, उसमें कैसा वैभव भरा है ? – इसका पता कैसे लगेगा।

हम तो कबहुं न निज घर आये....
परपद निजपद मान मगन ह्वैं, परपरिणति लिपटाये,
शुद्ध बुद्ध सुखकन्द मनोहर, चेतन भाव न भाये...
हम तो......

निजघर को भूलकर, अर्थात् अपने चैतन्यस्वभाव को भूलकर, परघर में, अर्थात् रागादि परभाव में अनन्त काल से जीव भटका है; पर-पद को निज-पद मान लिया है – यह बड़ी भूल हुई। उसे अब स्वघर का वैभव बतलाकर स्वघर में प्रवेश करने की विधि सन्त बतलाते हैं। अहो! यह तो इन्द्र और गणधर आदर करें – ऐसे अपूर्व धर्म की बात है।

आत्मा, अर्थात् चैतन्यसत्ता, उसका जो अनादि अनन्त परमभाव है, उसमें कोई हेतु नहीं है; वह अहेतु है। हेतु तो कोई नया कार्य हो, उसमें होता है, अर्थात् पर्याय में होता है; द्रव्य में नहीं होता। वर्तमान पर्याय में जो कार्य होता है, उसमें पूर्व पर्याय को भी हेतु कहा जाता है, अभेदरूप द्रव्य-गुण को भी हेतु कहा जाता है। पूर्व पर्याय में वर्तता द्रव्य, वह उत्तरपर्याय का हेतु है – ऐसा कार्तिकेयानुप्रेक्षा में वर्णन किया है। जब पर्याय की बात हो, तब

ऐसा कहा जाता है परन्तु जब द्रव्यदृष्टि से एकरूप द्रव्य को ही देखा जाए, तब तो उसमें उत्पाद-व्यय अथवा कारण-कार्य कहीं नहीं है; निरपेक्षसत् एकरूप परमभाव ही दिखता है। ऐसे स्वभाव का निर्णय करनेवाला ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है।

भाई! तेरे ज्ञान को बाहर भ्रमाकर उसमें तू जगत की नौंध रखता है कि इस देश में ऐसा हुआ और अमुक राजा आया....परन्तु यह तो सब व्यर्थ है। आत्मा के इस स्वभाव की बात ज्ञान की नौंध में भलीभाँति नौंध कर लेने जैसी है। इस स्वभाव को ज्ञान के लक्ष्य में लेने से अपूर्व लाभ है।

भाई! तेरा आत्मा, ज्ञानस्वरूप है, उसमें पर का तो कर्तृत्व -भोक्तृत्व नहीं है; राग का भी कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं है; और द्रव्यदृष्टि से देखने से निर्मलपर्याय के कर्ता-कर्म का भेद भी तुझमें नहीं है। त्रिकाल सत्द्रव्य में होनापना नहीं है। होनापना, अर्थात् कार्यपना पर्याय में होता है, द्रव्य में नहीं होता। बन्ध और मोक्ष ये दोनों परिणाम नये होते हैं; द्रव्य पूरा नया नहीं होता - ऐसे स्वभाव को लक्ष्य में लेने से निर्विकल्प अनुभव होकर ज्ञानचक्षु खुलते हैं। ऐसा अनुभव, परभावों से रहित है; इसलिए वह शून्य का अनुभव कहलाता है परन्तु उस अनुभव में सर्वथा शून्य नहीं है, निजभाव से तो वह भरपूर है। स्वभाव के वेदन में ज्ञान-आनन्दादि अनन्त गुणों का सद्भाव और रागादि समस्त परभावों का अभाव - ऐसा अनेकान्तपना है।

सत् की क्रिया अथवा धर्म की क्रिया कैसे होती है और किसमें होती है? यह उसकी बात है। क्रिया, परिणमनरूप है; कूटस्थरूप नहीं है। कूटस्थरूप ध्रुवस्वभाव को लक्ष्य में लेने से

बन्ध-मोक्षरूप क्रिया दिखायी नहीं देती। मोक्ष की शुद्धदशा या उसके कारणरूप मोक्षमार्ग तथा रागादि अशुद्धभाव या कर्म का सम्बन्ध, ये चारों प्रकार पर्याय में हैं। पर्याय के ऐसे प्रकारों का यथार्थ स्वरूप भी जैन सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है और द्रव्यदृष्टि से एकरूप द्रव्य है, वह भी जैन सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य किसी में यथार्थ नहीं कहा गया है। यह तो सर्वज्ञ परमात्मा का अलौकिकमार्ग है।

शून्य कहने से वस्तु का ही सर्वथा अभाव मान लें तो वह बड़ी भूल है। शून्य का अर्थ कहीं सर्वथा अभाव नहीं है परन्तु स्वभाव की अस्ति में परभाव की जो नास्ति है, उसका नाम शून्य है अथवा अभेदद्रव्य को देखनेवाली दृष्टि में पर्यायरूप परिणामों के भेद दिखायी नहीं देते; इसलिए उसमें परिणाम से शून्यता कही है परन्तु उस समय स्वभावसन्मुख ढला हुआ जो भाव है, वह स्वयं तो ज्ञान-आनन्द से भरपूर है, वह कहीं अभावरूप नहीं है। चैतन्यस्वभाव का निर्णय और अनुभव करनेवाला जो श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप परिणाम है, वह जीव की अवस्था है, वह मोक्षमार्ग है; वह पुण्य-पाप से रहित है और पर्यायनय का विषय है। उस परिणाम का अस्तित्व पर्यायरूप से है, द्रव्यरूप से नहीं। सत् कहने से उसमें द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों आ जाते हैं।

सत्‌रूप आत्मा में द्रव्यरूप पारिणामिकभाव है और पर्यायरूप औपशमिकादि चार भाव हैं। अनादि से संसार में भटकता हुआ जीव, जब सर्व प्रथम आत्मधर्म प्राप्त करता है, तब उपशान्तरस के अनुभवसहित प्राप्त करता है। शान्ति का समुद्र जो आत्मा, उसमें उपशमरस की धारा बहती है —

उपशम रस बरसे रे प्रभु, तेरे नयन में.....

नयन में, अर्थात् अन्तर्मुख ज्ञानपर्यायरूपी चक्षु में आनन्दरस की धारा उल्लसित होती है। आत्मा, वीतरागी अकषाय शान्तिस्वरूप है, उसका पहला ध्यान उपशमभावसहित होता है। उपशमभाव एक पर्याय है, वह मलिन नहीं तथा वह त्रिकाल टिकनेवाली भी नहीं है; वह एक समय का निर्मलभाव है। वह भाव, मोक्ष का कारण है। उपशमभाव, वह अपूर्वभाव है; जीव ने पूर्व में कभी वह प्रगट नहीं किया है। एक बार भी उपशमभाव प्रगट करने से मोक्ष का दरवाजा खुल गया और वह जीव, अल्प काल में मोक्ष प्राप्त करेगा।

कषायों से उपयोग को पृथक् करके, शान्तस्वरूप होकर चैतन्यघन आत्मा को पहली बार अनुभव में लिया तब, अर्थात् अपूर्व सम्यक्त्व प्रगट हुआ तब, उपशमभाव ही होता है, यह नियम है (यह श्रद्धा के नियम की बात है, ज्ञान तो उस समय सम्यक् क्षयोपशमभाववाला होता है) सम्यक्त्वपूर्वक जो क्षयोपशमभाव हुआ, वह मोक्षमार्ग में है; मिथ्यात्वसहित का जो क्षयोपशमभाव अनादि से समस्त जीवों को है, उसकी यहाँ बात नहीं है क्योंकि वह मोक्ष का कारण नहीं है; यहाँ तो मोक्ष के कारणरूप भाव की बात है।

मोक्ष के साधक जीवों को उपशम-क्षयोपशम-क्षायिकरूप निर्मलपर्यायें हुए बिना नहीं रहतीं। त्रिकाली द्रव्यरूप पारिणामिकभाव और पर्याय में चार प्रकार के भाव, ये सब भाव जीवतत्त्व के हैं। उनमें से एक भी प्रकार को सर्वथा निकाल देने से जीवतत्त्व का प्रमाणभूत स्वरूप लक्ष्य में नहीं आता। जीव के पाँच भावरूप

यथार्थ वस्तुस्थिति है, वह सर्वज्ञदेव ने जानी है और अनुभव में आने योग्य है। अज्ञानी जीव, आत्मा के अनुभव की बातें करे, परन्तु त्रिकाली आत्मा क्या, उसकी पर्याय क्या, उसमें विकार क्या और निर्मलता कैसे हो ? अनुभव कौन-सा भाव है ? इन समस्त प्रकारों की समझ बिना आत्मा का सच्चा अनुभव नहीं होता। अनुभव, वह अनन्त काल में नहीं प्रगट हुई – ऐसी अपूर्वदशा है, और द्रव्यस्वभाव त्रिकाल है – ऐसी द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु के ज्ञानपूर्वक सच्चा आत्म-अनुभव होता है और मोक्षमार्ग प्रगट होता है। त्रिकालभाव और क्षणिकभाव, इन दोनों स्वभाववाली वस्तु है।

आत्मा के जो पाँच भाव हैं, उनमें से चार भाव, पर्यायरूप हैं और पारिणामिक परमभाव, द्रव्यरूप है। यद्यपि क्षायिकभाव प्रगट होने के बाद अनन्त काल सदा ऐसा का ऐसा हुआ करता है, तथापि वह पर्यायरूप है। वस्तु ही द्रव्य-पर्यायरूप है। अपनी आत्मवस्तु को देखने के लिए दृष्टि कहाँ जाती है ? अपने अन्तर में दृष्टि जाती है, इतने में ही आत्मा है; बाहर नहीं। अन्तर्मुख अवलोकन द्वारा आत्मा का अनुभव होता है।

उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार;
अन्तर्मुख अवलोकते विलय होत नहीं वार।

(श्रीमद् राजचन्द्र)

अन्तर्मुख अवलोकन, वह पर्याय है; मोह विकल्परूप अधर्मदशा, वह भी आत्मा की पर्याय में थी, वह उदयभावरूप थी और अधर्मदशा मिटकर धर्मदशा प्रगट हुई, वह उपशमादिभावरूप है। पारिणामिकभावरूप द्रव्य, त्रिकाल है; इसमें पाँचों भाव आ गये। पाँच भावरूप वस्तु की सिद्धि, सर्वज्ञ के शासन में ही है।

द्रव्य और पर्याय परस्पर सापेक्ष है – ऐसी आत्मवस्तु है। यद्यपि जगत् की समस्त वस्तुएँ द्रव्य-पर्यायरूप है परन्तु यहाँ आत्मवस्तु का वर्णन है। ज्ञायकभावस्वरूप आत्मा कैसा है? – वह यहाँ बतलाना है।

द्रव्य के बिना पर्याय नहीं और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं; परस्पर सापेक्ष – ऐसी द्रव्य-पर्यायरूप दोनों होकर पूर्ण चीज है। द्रव्य और पर्याय, ये अंश एक-दूसरे से 'कथञ्चित् भिन्न' होने का कहेंगे, परन्तु वस्तु तो दोनों अंश होकर पूरी है। सहजस्वभाव कहो या पारिणामिकभाव कहो, वह त्रिकाल द्रव्य है; उस स्वभाव की पहचान और एकाग्रतारूप पर्याय औपशमिक -क्षयोपशमिक या क्षायिकभाव है; रागादि विकारीभाव, वह औदयिकभाव है। धर्म के प्रारम्भ का भाव, वह उपशमभाव है, वह अल्प काल ही रहता है; तत्पश्चात् तुरन्त क्षयोपशम होता है और क्षयोपशमपूर्वक क्षायिक होता है। क्षायिकभाव प्रगट होने के बाद सदा काल ऐसा का ऐसा रहता है। उदयभाव मिट जाता है; क्षायिकभाव होने पर उपशम या क्षयोपशमभाव भी नहीं रहता; पारिणामिकपरमभाव तो सदा ही ऐसा का ऐसा है। द्रव्यरूप और पर्यायरूप, ये दोनों भाव, वस्तु में एक साथ हैं – ऐसी वस्तु को देखने के तीन प्रकार हैं।

– त्रिकाल कायमरूप भाव को देखनेवाली दृष्टि, वह द्रव्यार्थिकनय,

– वस्तु को पर्यायरूप देखनेवाली दृष्टि, वह पर्यायार्थिकनय और,

– द्रव्य-पर्याय को एक साथ देखना, वह प्रमाणरूप ज्ञान।

अध्यात्मदृष्टि में शुद्धद्रव्य, वह निश्चय है और उसकी शुद्धपर्याय द्वारा मोक्षमार्ग को साधना, वह व्यवहार है। रागादिक तो परमार्थ से अनात्मा है। वे शुद्ध आत्मा नहीं; अशुद्ध आत्मा है, अर्थात् शुद्धदृष्टि में वह अनात्मा है। अभेद आत्मा की शुद्ध अनुभूति में उनका अभाव है। शुद्धजीव, वह अन्त:तत्त्व है और रागादि, वह बाह्यतत्त्व है और अभेदतत्त्व की अनुभूति में निर्मलपर्याय के भेद भी नहीं हैं, इस अपेक्षा से उन्हें भी बाह्यतत्त्व कहा है। नियमसार गाथा 38 में जीवादि तत्त्वों को बाह्यतत्त्व कहा है और शुद्धआत्मा को ही अन्त:तत्त्व कहा है, अर्थात् जीवादि तत्त्वों के भेद सम्बन्धी जो विकल्प हैं, उनके द्वारा शुद्धआत्मा अनुभव में नहीं आता; इसलिए उन्हें बाह्यतत्त्व कहकर हेय कहा है। पर्याय के भेद हैं, वे आदरणीय नहीं हैं, आश्रय करने योग्य नहीं हैं; ज्ञायकमूर्ति त्रिकाली तत्त्व में अभेद होकर अनुभव करने योग्य हैं।

अनुभव स्वयं पर्याय है परन्तु वह द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होकर उसका आश्रय करती है; इस प्रकार शाश्वत् वस्तु और उसकी वर्तमान अवस्था – ये दोनों परस्पर सापेक्षरूप से परिपूर्ण आत्मा को प्रसिद्ध करती है। त्रिकाली वस्तु की प्रसिद्धि तो वर्तमान पर्याय द्वारा होती है; पर्याय अन्तर्मुख हुई, तब जाना कि अहो! मैं तो ऐसा त्रिकाल ज्ञायकभाव हूँ।

प्रत्येक जीव स्वयं ऐसे स्वभाववाला है। आत्मा के ऐसे स्वभाव का अभ्यास करने योग्य है। हे जीव! तेरे पास तो इतना क्षयोपशम है; तत्त्व समझनेयोग्य क्षयोपशम तो संज्ञी जीवों को बहुतों को होता है परन्तु जीव स्वयं उसमें उपयोग नहीं जोड़े और अन्यत्र उपयोग भ्रमाये तो यह उसका दोष है। विवाह या व्यापार इत्यादि पाप के

काम करने हों, तब ऐसा नहीं कहता कि मुझमें बुद्धि नहीं है किन्तु धर्म समझने की बात आवे, तब कहता है कि हममें बुद्धि नहीं है....। अरे मूर्ख! पाप में तो तू उत्साह से तेरा उपयोग लगाता है और आत्मा के विचार में उपयोग नहीं लगाता, परन्तु यदि आत्मचिन्तन में उपयोग लगाये तो कौन तुझे रोकता है ? तुझे स्वयं को आत्मा की रुचि नहीं है; इसलिए उसमें तू उपयोग लगाने का प्रयत्न ही नहीं करता। यदि प्रयत्न करे तो अवश्य आत्मा का स्वरूप समझ में आये और उसमें उपयोग लगे।

अरे भाई! यह तेरे उद्धार का अवसर आया है; अत: तू अपने आत्मा की दया तो कर! अरे! अज्ञान से संसार में बहुत-बहुत दु:ख भोगे, उसमें से छुड़ाने के लिए क्या तुझे तेरे आत्मा की दया नहीं आती ? क्या तुझे अभी दु:ख की थकान नहीं लगती ? तू परिभ्रमण करता हुआ चौरासी के अवतार में दु:खी होता है, तो उसमें से छूटने के लिए अपने सच्चे स्वरूप की पहचान कर। अभी आत्मा के उद्धार का अवसर है।

जिस प्रकार विदेहक्षेत्र के मुनिवरों ने भोगभूमि में जाकर ऋषभदेव के जीव को कहा कि हे भाई! तू अभी ही सम्यक्त्व को ग्रहण कर, अभी ही सम्यक्त्व की लब्धि का काल है। इसी प्रकार यहाँ भी सन्त कहते हैं कि हे भाई! यह आत्मा के कल्याण का महान अवसर आया है, यह अवसर तू चूक मत जाना।

पारिणामिकभाव तो जीव के अतिरिक्त दूसरे द्रव्यों में भी है परन्तु यहाँ शुद्धजीव का जीवत्व बतलाना है; इसलिए जीव के परमभाव की बात है। जीव का जीवन जो चैतन्यभावप्राणरूप त्रिकाल है, वह पारिणामिकभावपने सदा एकरूप है; वह स्वयं

बन्ध–मोक्ष से रहित है। शुद्ध पारिणामिकभाव में भव्यत्व–अभव्यत्व या अशुद्ध जीवत्व – ऐसे भेद नहीं आते हैं। तीन भेद डालना, वह अशुद्ध पारिणामिक में है; इसलिए वह व्यवहारनय का विषय है। अकेला शुद्धजीवत्वरूप परमपारिणामिकभाव, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है, उसमें बन्ध–मोक्षपर्याय नहीं आती; इसीलिए वह बन्ध–मोक्ष के परिणाम से शून्य है – ऐसा कहा है। ऐसे परमभाव को लक्ष्य में लेनेवाली, अर्थात् उस ओर झुकनेवाली पर्याय, वह मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग साधना, वह क्रिया है; द्रव्य स्वयं क्रियारूप नहीं है, अक्रिय है। बन्ध–मोक्ष की क्रिया तो पर्याय में है।

पाँच भावों का स्वरूप समझने पर उसमें यह सब आ जाता है – बन्ध क्या ? मोक्ष क्या ? उसका कारण क्या ? किस भाव से मोक्ष होता है ? किस भाव से बन्धन होता है ? कौन–सा भाव, अशुद्ध ? कौन–सा भाव, शुद्ध ? कौन–सा भाव, क्षणिक ? कौन–सा भाव, त्रिकाल ? कौन–से भाव, उत्पाद–व्ययरूप ? कौन–सा, भाव ध्रुवरूप ? किसका आश्रय छोड़ना ? और किसका आश्रय करना ? – इन सबका निर्णय इन पाँच भावों की पहचान में आ जाता है।

द्रव्य अपेक्षा से अक्रिय और पर्याय अपेक्षा से सक्रिय – ऐसा वस्तुस्वभाव है।

✦ अक्रिय में पारिणामिकभाव आता है और सक्रिय में चार भाव आते हैं।

✦ ध्रुवत्व में पारिणामिकभाव आता है और उत्पाद–व्यय में चार भाव आते हैं।

✦ मोक्ष में क्षायिकभाव आता है और मोक्षमार्ग में उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक – ये तीन भाव आते हैं।

✦ बन्धमार्ग में उदयभाव आता है।

इस प्रकार पाँच भावों के बँटवारे द्वारा वस्तुस्वरूप समझ में आता है। पाँच भावों में जो भूतार्थस्वभाव है, उसको अनुसरण करके, अर्थात् उसकी सन्मुखता होकर अनुभव करने से आत्मा का सच्चा बोध होता है और सम्यग्दर्शन होता है। शास्त्र के आश्रित अथवा भेद के आश्रित, सम्यग्दर्शन नहीं है। मोक्षमार्ग, परसत्तावलम्बी नहीं; स्वसत्तावलम्बी मोक्षमार्ग है। जितने परावलम्बीभाव हैं, वे बन्ध का ही कारण हैं। स्वावलम्बीभाव ही मोक्ष का कारण है; इसीलिए आचार्यदेव ने प्रवचनसार में कहा है कि हे जीव! तेरे केवलज्ञान का साधन तुझमें ही होने पर भी, तू बाहर में सामग्री ढूँढ कर व्यग्र क्यों होता है? बाहर की सामग्री ढूँढ़ने जाने से तुझे व्यग्रता के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलेगा। तू ही छह कारकरूप स्वयंभू है। अरे! तुझे तेरी शक्ति का विश्वास नहीं आता? विश्वास कर भाई! सर्वज्ञ और सन्तों ने स्वयं अनुभव की हुई निज शक्ति तुझे दिखलायी है। तेरा आत्मा पंगु नहीं, परन्तु परमेश्वरता से परिपूर्ण है।

शुद्धपारिणामिकभाव से तो सभी जीव, एक समान हैं। द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु में द्रव्य तो शुद्ध ध्रुव परमभावरूप है; पर्याय, बन्ध-मोक्षरूप और उत्पाद-व्ययरूप है। शुद्धद्रव्य को एकरूप देखना, वह परमपारिणामिकभाव है, वह शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषय है और तीन भेद डालना, वह अशुद्ध पारिणामिक है, वह पर्यायनय का विषय है। तत्त्वार्थसूत्र में पारिणामिकभाव के तीन प्रकार कहे गये हैं, वह व्यवहार है। यहाँ भी कहते हैं कि दस प्राणरूप जीवत्व तथा भव्यत्व, अभव्यत्वरूप द्वय – ये

तीन भेद पर्यायार्थिक नयाश्रित होने से अशुद्ध पारिणामिकभाव संज्ञावाले हैं।

प्रश्न : उन्हें अशुद्ध क्यों कहा ?

उत्तर : शुद्धनय से संसारी जीवों को वह दस प्राणरूप जीवत्व तथा भव्यत्व, अभव्यत्व का अभाव है और सिद्धों को तो उनका सर्वथा अभाव है; इसलिए इन तीन भावों को अशुद्ध कहा है।

1. जीवत्व : पाँच इन्द्रिय, मन-वचन-काय, श्वासोच्छ्वास, और आयु - ऐसे दस भावप्राणों को धारण करके जीनेरूप जो अशुद्ध जीवत्व पारिणामिकभाव है, वह जीव का शुद्धस्वभाव नहीं है और सिद्ध को ऐसे दस भावप्राण नहीं होते हैं। यहाँ बाहर के शरीर, इन्द्रिय इत्यादि जड़प्राण की बात नहीं है, वे तो भिन्न वस्तु है परन्तु अन्दर जीव की योग्यता में जो भावप्राण हैं, उनकी यह बात है क्योंकि यह जीव के भावों का वर्णन चल रहा है।

2. भव्यत्व : मोक्ष होने की योग्यतारूप जो भव्यत्वभाव, वह यद्यपि पारिणामिकभाव का प्रकार है परन्तु सिद्धों को साक्षात् मोक्षदशा हो गयी है; इसलिए अब 'मोक्ष होने की योग्यतारूप' भव्यत्व का व्यवहार वहाँ नहीं रहा है। चौदह मार्गणाओं में भी सिद्धों को भव्यत्व और अभव्यत्व दोनों से पार कहा है।

3. अभव्यत्व : मोक्ष होने की योग्यता न होनेरूप अभव्यत्वभाव है। शुद्ध जीव को देखनेवाली दृष्टि में ऐसे तीन प्रकार दिखाई नहीं देते हैं; एकरूप शुद्ध परमभाव ही दिखाई देता है।

वह परमभाव कैसा है ? शक्तिरूप है; सदा निरावरण है; उसमें आवरणरूप बन्धन कभी है ही नहीं; इसलिए उनसे छूटनेरूप

मोक्ष होना भी उसे नहीं है। इस प्रकार वह परमभाव, बन्ध-मोक्ष से रहित है। उसे शक्तिरूप मोक्ष कहते हैं परन्तु जो बन्ध-मोक्षरूप प्रगट पर्यायें हैं, वे इस परमभाव में नहीं हैं। परमभाव तो शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय है, उसमें पर्याय नहीं आती है।

अपने ऐसे परमभाव को प्रतीति में लेनेवाला जीव, भव्य ही होता है, निकट मोक्षगामी ही होता है; परन्तु मात्र भव्यत्व का भेद लक्ष्य में लेने से शुद्धजीव लक्ष्य में नहीं आता है। इसी प्रकार दस भावप्राण से जीवे, वह जीव - ऐसा लक्ष्य में लेने से भी शुद्धजीव लक्ष्य में नहीं आता है। सिद्धभगवन्त तो दस भावप्राण के बिना अकेले चैतन्यप्राण से ही सदा जी रहे हैं और **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** — अर्थात्, शुद्धनय से समस्त जीव ऐसे शुद्धस्वरूप ही हैं। 'सर्व जीव हैं सिद्धसम, जो समझे वे होंय' - तीन प्रकार के अशुद्ध पारिणामिकभाव सिद्ध में नहीं हैं। यदि वह जीव का शुद्ध परमभाव होता तो सिद्धदशा में उसका अभाव कैसे होता? इस प्रकार वे शुद्धस्वभाव नहीं हैं, इसलिए उन्हें अशुद्ध कहा है और पर्यायनयाश्रित कहा है।

परमभावरूप जो शुद्ध जीवत्व पारिणामिकभाव है, वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनयाश्रित है, अर्थात् शुद्ध द्रव्यदृष्टि उसे देखती है। अपने ऐसे परमभाव को देखने से ही जीव को सच्चा सुख और सम्यग्दर्शनादि प्रगट होते हैं।

भाई! तुझे दुःख मिटाकर सुखी होना है न! तो दुःख किस भाव से है और सुख किस भाव से होता है? उसे तू जान। सुख-दुःख तेरे अपने भावों से ही है; दूसरे के कारण नहीं। श्रीमन्तता, सुख नहीं है और दरिद्रता, दुःख नहीं है। स्वसन्मुख निर्मलभाव, सुख है

और परसन्मुख मलिनभाव, दु:ख है। स्वसन्मुख होने के लिए स्वतत्त्व कैसा है ? यह उसकी पहचान चलती है। बापू ! तेरे वास्तविक स्वतत्त्व को तूने कभी नहीं जाना है। अरे ! बहुत से जीवों को तो स्वतत्त्व की बात ही कभी सुनने को नहीं मिलती। स्वतत्त्व में भी दो पहलू – एक त्रिकाली ध्रुव द्रव्यरूप, दूसरा क्षणिक उत्पाद –व्यय पर्यायरूप।

अब, जिस भाव से जीव को दु:ख होता है, वह भाव, क्षणिक है; वह त्रिकाल नहीं है। यदि वह क्षणिक न हो और त्रिकाल हो तो वह दु:ख मिटकर, सुख का भाव कहाँ से हो सकेगा ? परन्तु दु:ख मिटकर, सुख हो सकता है क्योंकि वह भाव, द्रव्यरूप नहीं, परन्तु पर्यायरूप है। अब, दु:ख मिटकर जो सुख हुआ, अर्थात् मोक्षमार्ग हुआ, वह भी पर्यायरूप भाव है और द्रव्यरूप शुद्धजीव तो सदा एकरूप अविनाशीपने त्रिकाल कायम परमभाव है। एक आत्मवस्तु में इतने भाव समाहित होते हैं, उन्हें जानना चाहिए।

जीववस्तु एक, परन्तु उसमें भाव दो — (1) पर्यायनय का जीवत्व; (2) द्रव्यनय का जीवत्व। ऐसे द्रव्य-पर्यायरूप जीव –वस्तु पहचाने, तब धर्म होता है, तब दु:ख मिटकर सुख होता है और मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

यह तो अन्दर का मार्ग है; यह कोई बाहर की बात नहीं है।

आत्मा का कायम रहनेवाला जो द्रव्यस्वभाव, वह बन्धरूप नहीं है अथवा मोक्षरूप नहीं है। बन्ध के अशुद्धपरिणाम या मोक्ष के शुद्धपरिणाम – ये दोनों पर्याय में होते हैं, द्रव्य में नहीं; इसलिए द्रव्य स्वयं बन्ध-मोक्ष का कारण नहीं है – ऐसा यहाँ बतलाया है। बन्ध-मोक्ष का कारणपना पर्याय में होता है। जीव की मोक्षपर्याय

नयी प्रगट होती है परन्तु जीवद्रव्य कोई नया नहीं उत्पन्न होता तथा जीव की बन्धपर्याय का अभाव होता है परन्तु कहीं जीवद्रव्य स्वयं नष्ट नहीं हो जाता। इस प्रकार द्रव्य का उत्पत्ति-विनाश नहीं है। पर्यायरूप से देखो तो आत्मा, बँधता है और आत्मा, मुक्त होता है और द्रव्यरूप से देखो तो आत्मा, बन्ध-मोक्ष से रहित एकरूप परम ज्ञायकभाव है। जीव के ऐसे मूलस्वभाव को लक्ष्य में लेने से मोक्षमार्ग-अवस्था प्रगट हो जाती है।

जैसे, किसी पुरुष को थोड़े दिन के लिए पैर में बेड़ी बाँधी हो, वहाँ बेड़ी के बन्धन जितना पूरा पुरुष नहीं है। यदि बन्धन जितना ही पुरुष होवे तो बन्धनदशा का नाश होने से पुरुष का ही नाश हो जाएगा, परन्तु पूरा पुरुष बन्धदशारूप नहीं हो गया है। इसी प्रकार अनादि-अनन्त चैतन्य पुरुष आत्मा के एक अंश में जो क्षणिक बन्धभाव है, वह पूरा आत्मा नहीं है; पूरा आत्मा, अर्थात् भूतार्थरूप शुद्धआत्मा उस बन्धनरहित है।

भाई! तू जैसे स्वभाव से सत् है, वैसा सत्स्वभाव सन्त तुझे बतलाते हैं। जगत में तो मिथ्यात्वपोषक उल्टे-सीधे अनेक मत -मतान्तर चलते हैं। अरे! वे तो जीव का अहित करनेवाले हैं। यह तो सर्वज्ञदेव द्वारा कथित यथार्थ वस्तुस्वरूप क्या है और उसमें सत्य आत्मा कैसा है? कि जिसे जानने से परमकल्याण होता है — ऐसी बात है। बापू! यह तो चिन्तामणि रत्न से भी अधिक कीमती वस्तु है। कोई महा-भाग्यवन्त जीवों को ऐसी बात प्राप्त होती है... और अन्तर में यह समझे, उसकी तो क्या बात! उसकी हाँ करके बहुमान करनेवाले जीव भी निहाल हो जाएँगे।

देखो, यह आत्मा का जीवनचरित्र! त्रिकाली जीवन्तस्वामी

आत्मा के त्रिकाली जीवन में रागादिक नहीं हैं और इन्द्रियाँ इत्यादि द्रव्यप्राण, जो कि अचेतन हैं, वे तो आत्मा की अवस्था में भी नहीं हैं। शरीर स्वयं ही मृतक कलेवर है; अत: उसके द्वारा जीव कैसे जियेगा? अपने चैतन्यजीवन से त्रिकाल जीवे और चैतन्यस्वभाव में स्वसन्मुख होकर मोक्ष को साधकर सादि-अनन्त काल सिद्धदशा का आनन्दमय जीवन जीवे, यही आत्मा का सच्चा जीवनचरित्र है; बाकी अज्ञान में और रागादिक में जीवे, वह तो अशुद्धजीवन है – उसे उस जीव का जीवन कौन कहे? वह तो भयङ्कर भावमरण है। **तू क्यों भयङ्कर भावमरण प्रवाह में चकचूर है!** वास्तविक आत्मजीवन तो अरहन्त जीते हैं – 'तेरा जीवन, वास्तविक तेरा जीवन... जीना जाना नेमिनाथ ने जीवन...।'

खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप जो भावेन्द्रियाँ हैं, वे तो जीव की अशुद्ध अवस्था हैं परन्तु यह बाहर दिखनेवाली जड़इन्द्रियाँ तो आत्मा की अशुद्ध अवस्था में भी नहीं हैं; ये तो आत्मा से सर्वथा भिन्न, अचेतन वस्तु हैं। इस अचेतन के द्वारा मैं जीता हूँ अथवा इसके द्वारा मुझे ज्ञान होता है – ऐसा मानना तो जड़-चेतन की एकताबुद्धिरूप महा-अज्ञान है। यहाँ तो पर्याय में जो अशुद्धभाव है, उनसे भी पृथक् शुद्धजीवस्वभाव का अनुभव करने की बात है। यह बात बहुत ऊँची है; ऊँची है परन्तु समझने योग्य है और महान कल्याणकारी है।

जड़, विकार, और भेद – इन तीनों से पार चेतनरूप निर्विकार एकरूप आत्मस्वभाव को ध्याने से मोक्षमार्ग प्रगट होता है। जड़ -पदार्थ तो चेतन से पृथक् ही हैं; रागादि विकारभाव भी चेतनस्वभाव की चीज नहीं हैं और एक निर्मलपर्याय जितना भी पूरा आत्मस्वभाव

नहीं है; इसलिए उस पर्याय का भेद डालकर देखने से, अखण्ड आत्मस्वरूप नहीं दिखता। अन्तर्दृष्टि से त्रिकालीद्रव्य को देखने से, आत्मा का सच्चा स्वरूप दिखता है।

अहो! आत्मा का स्वरूप ही ऐसा है। वह चाहे जितना स्थूल/विस्तृत या सरल करके समझाओ, परन्तु मूलस्वरूप ही सूक्ष्म – अतीन्द्रिय है। वह सूक्ष्मस्वरूप, ऐसा स्थूल तो कभी हो ही नहीं सकता कि इन्द्रियज्ञान से पकड़ में आ जाए। सूक्ष्म वस्तु को पकड़कर, उसका अनुभव करने के लिए तो अपने ज्ञान को अतीन्द्रिय बनाना पड़ेगा। ज्ञान, अतीन्द्रिय कब होता है? अन्तर्मुख होवे तब। इसलिए अन्तर्मुख होने का अभ्यास करना ही आत्मा को समझने का उपाय है; बाकी आत्मा विकल्पगम्य या वाणीगम्य हो जाए – ऐसा स्थूल नहीं है। वह तो कोई अचिन्त्य महिमावन्त अतीन्द्रिय महापदार्थ है, महान है परन्तु स्थूल नहीं; सूक्ष्म है, अतीन्द्रिय है, स्वानुभवगम्य है।

देखो, यह आत्मा का जीवन। अरे जीव! तुझे तेरे स्थायी जीवन का भी पता नहीं पड़ता तो तू किस प्रकार सच्चा जीवन जियेगा? अन्न, पानी या शरीर से तू जीवित रहना मानता है, वह कोई सच्चा जीवन नहीं है।

भगवान कैसा जीवन जीते हैं? क्या रागवाला जीवन? क्या वह भगवान का वास्तविक जीवन था? नहीं! भगवान ने अपने त्रिकाली चैतन्यप्राणरूप परमस्वभाव को राग से पृथक् जानकर, उस स्वभाव के आश्रय से वीतरागी जीवन प्रगट किया। भगवान ऐसा वीतरागी जीवन जीये... और अभी भी ऐसा ही जीवन भगवान जी रहे हैं। ऐसा जीवन, वह वास्तविक जीवन है, वह सच्चा जीवन

है। राग से धर्म माने, अर्थात् राग से जीवन माने, उसे सच्चा जीवन जीना नहीं आता और भगवान के सच्चे जीवन को भी वह नहीं पहचानता है।

- शुद्ध चैतन्यभावप्राणरूप जीवन, त्रिकाल है।
- उसमें जड़प्राणों का अभाव, त्रिकाल है।
- खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप अशुद्धप्राण, वह पर्याय की योग्यता है।
- चैतन्यस्वभाव के आश्रय से अखण्ड ज्ञानरूप सादि-अनन्त मुक्त जीवन प्रगट होता है।

लो, इसमें जीव और अजीव; द्रव्य और पर्याय; बन्ध और मोक्ष – यह सब आ गया। भाई! जड़इन्द्रियाँ, शरीर या भाषा तू नहीं है, वे सब तो पुद्गलपिण्ड हैं; तू उनका कारण भी नहीं है और उनके कारण से तेरा जीवन नहीं है। एक बार अत्यन्त पृथकता करके अपनी स्ववस्तु को शोध ले! जैसे, स्वर्ण को शोधनेवाला धूलधोया, धूल के ढेर में से सोना अलग निकाल कर शोध लेता है; इसी प्रकार धूल के ढेर जैसे इन शरीरादि पदार्थों से पृथक् स्वर्ण-समान तेरा शुद्धस्वरूप है, उसे तू अन्तर्दृष्टि द्वारा शोध ले।

सर्वज्ञदेव के द्वारा कथित तत्त्व, अलौकिक है... भाई! यह समझ में आये, ऐसी चीज है। ऐसा आत्मस्वभाव समझकर और उसे अनुभवगम्य करके अनन्त जीव, मोक्ष गये हैं। जिस मार्ग से अनन्त जीव मोक्ष गये हैं, उसकी ही यह बात है; इसलिए तुझसे हो सके – ऐसी बात है परन्तु इसके लिए अन्तर में स्वयं अपनी दरकार चाहिए। आत्मा की दया चाहिए कि अरे! अब इस भव-दु:ख से बस होओ... अब मुझे मेरे आत्मा को इस भव-दु:ख से

छुड़ाना है; इस प्रकार आत्मा की धगशपूर्वक समझना चाहे तो अवश्य समझ में आ सके – ऐसा स्वरूप है।

अन्तर के स्वभाव को देखने पर एकरूप परमस्वभाव है। ऐसे निजस्वभाव के आनन्द का ध्यान करने से परमार्थदशा प्रगट होती है, वहाँ दश भावप्राणरूप अशुद्धता नहीं रहती है; इसलिए वह अशुद्धजीवत्व, शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव का स्वभाव नहीं है। इसी प्रकार भव्यत्व तथा अभव्यत्व को भी अशुद्धपारणामिक कहा है। जिसे भव्यता होती है, उसे अभव्यता नहीं होती; जो अभव्य होता है, उसे भव्यता नहीं होती, परन्तु शुद्धदृष्टि में ये दोनों भेद दिखायी नहीं देते; उसमें तो एक परमभावरूप शुद्धजीवत्व ही दिखायी देता है और ऐसी शुद्धदृष्टि से अपने परमभाव को देखनेवाला जीव, भव्य ही होता है। ऐसे परमस्वभाव की समझ के बिना शुभराग करने से धर्म नहीं हो जाता। शुभराग भी संसार है; वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है; मोक्षमार्ग के लिए तो रागरहित वस्तुस्वरूप समझना चाहिए। धर्म का पुंज तो आत्मा है। आत्मद्रव्य क्या, उसकी पर्याय क्या? – इसका लक्ष्य किये बिना धर्म का पक्ष भी नहीं होता और राग का पक्ष भी नहीं छूटता। राग के पक्ष का फल तो संसार है। भाई! तुझे संसार से छूटना हो और सिद्धपद साधना हो तो भेदज्ञान के द्वारा राग का पक्ष छोड़ और स्वभाव का पक्ष कर।

शुद्धदृष्टि से पारिणामिक एक परमभाव में तीन भेद नहीं हैं। चौदह मार्गणा के भङ्ग-भेद शुद्धद्रव्य की एकता में नहीं हैं। चौदह मार्गणा सम्बन्धी व्यवहार, जैसा जैनशासन में बतलाया है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। जैन का व्यवहार भी अलौकिक है और

परमार्थ भी अलौकिक है। चौदह मार्गणा द्वारा जीव की पर्याय के शुद्ध-अशुद्ध प्रकारों का सूक्ष्म ज्ञान कराया है परन्तु उस पर्याय के भेद के समक्ष देखने से शुद्धजीवस्वभाव अनुभव में नहीं आता; इसलिए समयसार गाथा 50 से 55 में 29 बोलों द्वारा उस अशुद्धता को और पर्याय-भेदों को शुद्धआत्मा की अनुभूति से बाह्य कहा है। आत्मा की ऐसी अनुभूति, वह साक्षात् मोक्षमार्ग है।

भाई! तेरी आत्मा को पर के साथ तो कोई सम्बन्ध नहीं है। अपनी अवस्था और अपना द्रव्य, इन दो अंशों के बीच की सारी क्रीड़ा है, उसमें जो द्रव्य अंश है, वह ध्रुव है और पर्याय अंश, उत्पाद-व्ययरूप है। ध्रुव में आवरण या अशुद्धता नहीं होती, वह निरावरण शुद्ध एकरूप है। अशुद्धता और शुद्धता; बन्धन और मोक्ष, ये पर्याय में होते हैं।

चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा का त्रिकाली स्वरूप कैसा है? पारिणामिक परमभावरूप है। जीव के इस अविनाशी जीवन में अशुद्धता नहीं है; बन्ध-मोक्ष नहीं है। अनन्त गुणसहित त्रिकाल शाश्वत् जीवत्व, वह परमभाव है। उसे परमभाव कहो या शुद्धद्रव्य कहो, उसके आश्रय से मोक्षमार्ग खुलता है। जीव के अनन्त गुण त्रिकाल पारिणामिकभावपने हैं परन्तु गुण के भेद नहीं करके, अनन्त गुण से अभेद एक परमभाव का अनुभव करना चाहिए, वह मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग, तीन भावरूप है; मोक्ष, एक क्षायिकभावरूप है; बन्ध, उदयभावरूप है, और बन्ध-मोक्षरहित, वह पारिणामिकभाव है।

पारिणामिकभाव के तीन भेदों में जो जीवत्व कहा है, वह व्यवहार जीवत्व, अर्थात् दश प्राणरूप अशुद्धजीवत्व लेना; शुद्ध -जीवत्व उसमें नहीं आता है। द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत

शुद्धजीवत्वशक्ति लक्षणभूत जो पारिणामिकभाव है, उसमें कोई भेद नहीं है, उस पारिणामिकभाव की अपेक्षा से तो सभी जीव समान हैं।

द्रव्यसंग्रह की तेरहवीं गाथा की टीका में चौदह मार्गणाओं का वर्णन है। उसमें भव्यमार्गणा में भव्यत्व और अभव्यत्व, ऐसे दो प्रकार कहे हैं। वहाँ शिष्य **प्रश्न** करता है कि शुद्धपारिणामिक परमभावरूप शुद्धनिश्चय से जीव, गुणस्थान-मार्गणास्थानरहित है – ऐसा आपने कहा था और यहाँ तो मार्गणा में भी भव्यत्व - अभव्यत्वरूप पारिणामिकभाव कहा है – तो पूर्वापर विरोध हुआ?

उत्तर में कहा है कि नहीं, क्योंकि पहले तो शुद्धपारिणामिकभाव की अपेक्षा से गुणस्थान तथा मार्गणस्थान का निषेध किया था और यहाँ भव्यत्व-अभव्यत्वमार्गणा में जो कहा, वह तो अशुद्ध -पारिणामिकभाव है। इस प्रकार विवक्षाभेद से दोनों कथन समझना चाहिए।

'शुद्ध और अशुद्ध, ऐसे भेद से पारिणामिकभाव दो प्रकार का नहीं है परन्तु पारिणामिकभाव, शुद्ध ही है।' ऐसा कदाचित् कहो तो वह योग्य नहीं है क्योंकि सामान्यरूप से उत्सर्ग व्याख्या से यद्यपि पारिणामिकभाव तो शुद्ध ही कहा जाता है, तथापि अपवादरूप व्याख्यान से अशुद्धपारिणामिकभाव भी है। इसी अपेक्षा से तत्त्वार्थसूत्र में **जीव-भव्याभव्यत्वानि च** – इस प्रकार पारिणामिकभाव के तीन प्रकार कहे हैं। जो शुद्धचैतन्यरूप जीवत्व हैं, वह अविनाशी होने से शुद्धद्रव्याश्रित है; इसलिए उसे शुद्ध - द्रव्यार्थिकरूप शुद्धपारिणामिकभाव कहा जाता है और जो कर्मजनित दश प्राणरूप जीवत्व है, वह जीवत्व तथा भव्यत्व और अभव्यत्व

– ये तीन प्रकार हैं। वे विनाशशील होने से पर्यायाश्रित हैं; इसलिए वे पर्यायार्थिकरूप अशुद्धपारिणामिकभाव कहे जाते हैं।

उन्हें अशुद्धता क्यों है ? ऐसा कोई **पूछे** तो उसका **उत्तर** यह है कि व्यवहारनय से संसारी जीवों को यद्यपि अशुद्धपारिणामिकभाव है, तथापि **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** – इस वचन से शुद्धनिश्चय की अपेक्षा से जीव को वे तीन भाव नहीं हैं और मुक्त जीवों को तो सर्वथा ही नहीं हैं। इस कारण उन तीन भावों को अशुद्धद्रव्य कहा है। उन शुद्ध और अशुद्धपारिणामिकभावों में से जो शुद्ध-पारिणामिकभाव है, वह ध्यान के समय ध्येयरूप है परन्तु ध्यानरूप नहीं, क्योंकि ध्यान–पर्याय तो विनश्वर है और शुद्धपारिणामिकभाव तो द्रव्यरूप होने से अविनश्वर है *(देखो, द्रव्यसंग्रह गाथा 13 की टीका)*। यहाँ श्री समयसार की 320 वीं गाथा की टीका में भी अक्षरश: यही बात की है।

शुद्धपारिणामिकभाव में तीन भेद नहीं पड़ते, क्योंकि एकरूप जीवस्वभाव बतलाना है। भव्यत्व का सिद्धदशा में अभाव हो जाता है क्योंकि वहाँ साक्षात् मोक्षदशा हो ही गयी, वहाँ 'अब मोक्ष होने की योग्यतारूप' नहीं रहता। इस अपेक्षा से भव्यत्व को भी व्यवहारनय के भेद में लेकर अशुद्धपारिणामिकरूप कहा है। शुद्ध-दृष्टि में चौदह मार्गणा के भेद का निषेध करने में उसका भी निषेध आ ही गया है। व्यवहार से पारिणामिकभाव के तीन भेद होते हैं, उनका ज्ञान कराया है। पञ्चेन्द्रिय आदि जीव, जीव की सौ वर्ष इत्यादि आयु – ऐसा इन्द्रिय आदि दश प्राण द्वारा जीव को पहचानना, वह अशुद्धनय का विषय है।

द्रव्यदृष्टि से सभी जीव, शुद्ध एकरूप हैं। उनका स्वरूप

समझनेवाला जीव, भव्य ही होता है परन्तु 'मैं भव्य हूँ, अभव्य नहीं' – ऐसे विकल्प द्वारा शुद्धद्रव्य अनुभव में नहीं आता। मैं निकट भव्य हूँ और अल्प काल में मेरी मोक्ष पर्याय खिल जाएगी – ऐसा सम्यक्त्वी को अपनी पर्याय में नि:शंक निर्णय हो गया है परन्तु एकरूप स्वभाव को देखनेवाली दृष्टि में पर्याय के वे कोई भेद दिखायी नहीं देते, एक सर्वोपरि परमभाव ही दिखायी देता है।

द्रव्य-अपेक्षा से देखने पर एकरूप वस्तु है, उसमें परिणमन नहीं; परिणमन, पर्याय अपेक्षा से है। अनादि-अनन्त एकरूप ध्रुवभाव, वह निश्चय और मोक्षमार्ग आदि पर्यायभेद, वह व्यवहार। बन्ध का अभाव करूँ और मोक्ष प्रगट करूँ – ऐसे विकल्पों में आकुलता है। सहज एक ज्ञायकभाव परमस्वभाव जो कि बन्ध-मोक्षरहित है, उसमें उपयोग को जोड़ने से बन्ध-मोक्ष का कोई विकल्प नहीं रहता और निर्विकल्प अनुभव का परम आनन्द अनुभव में आता है। ऐसी एकत्व की अनुभूति में अनेक भेद नहीं दिखते। अवस्था, अवस्थारूप है परन्तु अवस्था, स्वयं ध्रुव नहीं है। यदि ऐसा नहीं होता तो वस्तु के दो अंश (दो धर्म) सिद्ध नहीं होते। वस्तु में अवस्था है ही नहीं – ऐसा नहीं है। द्रव्य और पर्याय – ऐसे दो अंशरूप वस्तु है, उसमें द्रव्य अंश, अक्रिय है, पर्याय अंश, सक्रिय है। अक्रिय, ऐसा द्रव्य अंश, पारिणामिकभावरूप है और सक्रिय, ऐसा पर्याय अंश, चार भावोंरूप है।

कषायपाहुड-जयधवला टीका में कषाय को पारिणामिकभाव कहा है, वहाँ अलग अपेक्षा है। नैगम, संग्रह और व्यवहार – ये तीन नय, कारण-कार्यभाव को ग्रहण नहीं करते हैं परन्तु कारण-कार्यभावरहित सीधी वर्तमान पर्याय को ग्रहण करते हैं; इसलिए

इन नयों की अपेक्षा से कषाय को पारिणामिकभावरूप होना कहा है। वैसे तो कर्मोंदय के निमित्त से हुआ होने से वह औदयिकभाव है परन्तु ऐसे निमित्त-नैमित्तिकभाव को ये नय ग्रहण नहीं करते। इन नयों की दृष्टि में तो कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

यहाँ तो पर्याय को गौण करके जो त्रिकाल एकरूप परम -स्वभाव है, उसे पारिणामिकभावरूप वर्णन करके ध्यान के ध्येयरूप बतलाना है। कषायादि समस्त विकारीभाव औदयिक हैं। अभी मोक्ष नहीं है और अल्प काल में मोक्ष होगा – ऐसे दो भेद भी जिसमें नहीं दिखते – ऐसे एकरूप अन्तरस्वभाव की दृष्टि यहाँ कराते हैं।

धर्मी को कहीं अपनी भव्यता में सन्देह नहीं रहता। मैं भव्य तो हूँ और आसन्न भव्य हूँ - ऐसा उसे आत्मा में से विश्वास हो गया है क्योंकि जहाँ शुद्धवस्तु दृष्टि में आ गयी... आत्मा परभावों से पृथक् परिणमन करने लगा, वहाँ अब मोक्ष में क्या विलम्ब! अथवा दृष्टि अपेक्षा से उसे मुक्त ही कहा है – **स हि मुक्त एव**।

अब मुझे अनन्त भव बाकी होंगे! – ऐसा सन्देहभाव मिथ्यादृष्टि को ही होता है, धर्मी को ऐसा सन्देह नहीं होता; वह तो नि:शंक है कि अब मुझे अनन्त भव तो नहीं, परन्तु अत्यन्त अल्प काल में ही भव का अभाव करके मैं मोक्षदशा प्रगट करनेवाला हूँ और सर्वज्ञ भगवान भी ऐसा ही जान रहे हैं। देखो, यह मोक्ष के साधक धर्मी की दशा! धर्मी को स्वयं को स्वयं का पता पड़ता है। आहा...हा...! जो आत्मा में उतरकर अपूर्व आनन्द का अनुभव करते-करते मोक्ष का साधक हुआ, उसे स्वयं को अपना

पता न पड़े – यह कैसे हो सकता है ? वहाँ सन्देह को अवकाश ही नहीं है।

अहो ! सम्यग्दृष्टि की दृष्टि, ध्रुव पर है; इसलिए मैं त्रिकाल शुद्ध ही हूँ - ऐसा वह अनुभव करता है, वहाँ विकार कैसा और भव कैसा ? **उसे तो भव्यता पक गयी.... मोक्ष लेने की तैयारी हो गयी.... आत्मा की जीत के नगाड़े बजे.... अन्तरस्वभाव की तरफ जो पर्याय झुकी, वह पर्याय, मुक्ति लेनेवाली ही है।** सदा ही मुक्त ऐसे शुद्धद्रव्य की जहाँ खबर पड़ी, वहाँ पर्याय की मुक्ति का सन्देश भी आ ही गया। अन्तर में स्वयं की ऐसी दशा, स्वयं को दिखायी दे, तब जीव को धर्म हुआ कहलाता है।

परमपारिणामिकभाव से परिपूर्ण भगवान आत्मा जहाँ प्रतीति में आया, वहाँ सम्यग्दर्शन हुआ; उस जीव ने शुद्धनय अनुसार भूतार्थ आत्मा का बोध किया, वहाँ जड़इन्द्रियों से तो पृथक् जाना, और भावेन्द्रिय जितना ही मैं – ऐसी बुद्धि भी नहीं रही; इसलिए वह जितेन्द्रिय हुआ। उसके अतीन्द्रिय ज्ञानचक्षु खुल गये... भव्यत्व का परिपाक हुआ।

भव्यत्व-अभव्यत्व में कर्म के उदयादि निमित्त नहीं हैं; इसलिए उसे पारिणामिकभाव कहा है और सिद्ध में उसका (भव्यत्व का) अभाव हो जाता है; इसलिए उसे अशुद्ध कहा है। सभी जीवों को जो एकरूप परमस्वभाव है, उसे शुद्धपारिणामिकभाव कहा है और वह द्रव्यदृष्टि का विषय है। यद्यपि कहीं भव्यत्व और अभव्यत्व को त्रिकाली गुणरूप भी वर्णन किया है। यहाँ पर्याय की अपेक्षा से कहा है कि सिद्ध को अब भव्यत्व का व्यवहार

नहीं होता है। साक्षात् मोक्षदशा हो गयी, फिर 'मोक्ष होने की योग्यता' कहने का कहाँ रहा ? इसलिए उन्हें भव्यत्व का अभाव कहा है। शास्त्रों में तो अनेक विवक्षा से कथन आता है; जहाँ जो विवक्षा है, वह समझना और उसमें से अपना हित हो – ऐसा तात्पर्य निकालना चाहिए।

शुरुआत में कहा था कि देखो भाई! आत्मा के स्वभाव की यह बात सूक्ष्म है; सूक्ष्म है परन्तु महा-कल्याणकारी है; इसलिए समझने में विशेष ध्यान रखना.... परन्तु सूक्ष्म है, इसलिए समझ में नहीं आयेगी – ऐसा नहीं मान लेना। यह बात मेरे स्वभाव की है और मुझे समझने योग्य ही है। इस प्रकार इसकी महिमा लाकर अन्तर के प्रयत्न से समझना। जीवों को समझाने के लिए ही तो आचार्यदेव ने यह बात की है; इसलिए यह समझ में आ सकती है और अनुभव में ली जा सकती है।

वाह! यह तो आत्मा का अनुभव करानेवाली वीतराग की वाणी है। मीठी–मधुर यह वीतरागी वाणी, आत्मा का सतस्वरूप दिखलाती है। ऐसा वस्तुस्वरूप जाने बिना, सच्ची दृष्टि नहीं होती; सच्ची दृष्टि हुए बिना उद्धार नहीं होता और भगवान का भक्त नहीं कहलाता। दूसरे मिथ्यादृष्टि जीव, अद्धर से कल्पना करके अलंकारिक बातें करें, वहाँ तत्त्वबुद्धिरहित अज्ञानियों को वह वाणी मीठी लग जाती है परन्तु वह कोई सत्य नहीं है, उसमें आत्मा का हित नहीं है; अपितु अहित है। **आत्मा को भी भूलकर शून्य हो जाना – ऐसा शून्य हो जाने की बात करते हैं, उसमें तो जड़ हो जाने जैसा आया है।** बापू! भगवान का मार्ग ऐसा अन्धा नहीं है, यह तो अन्दर जागती ज्योत जगमगाहट करता चैतन्यसूर्य स्वयं

है, उसका अनुभव करने की बात है। उसमें विभाव से शून्यता है परन्तु कहीं आत्मा, सर्वथा शून्य नहीं हो जाता है।

अरे! जीवों को अपना सूक्ष्म स्वरूप समझ में न आवे तो स्थूल बातों में धर्म मना देता हो तो वह बात अच्छी लगती है परन्तु समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि

परमत मृदुवचन रचित भी है,
निजगुण-संप्राप्ति रहित वह है;

अरे! परमत, अर्थात् राग से धर्म मनानेवाला अन्यमत। वह भले ही कोमल वचनवाला हो, परन्तु सम्यक्त्व आदि निजगुण की प्राप्ति तो उसमें नहीं है। हे जिनेन्द्रदेव! अनेक सम्यक्नयों के भंग से विभूषित ऐसा आपका स्याद्वादमार्ग है, वह समन्त-भद्ररूप है, अर्थात् समस्त प्रकार से जीवों का कल्याण करनेवाला है और निर्दोष है। प्रभो! वस्तु का अनेकान्तस्वरूप बतलानेवाली आपकी वीतरागी वाणी हमें मोक्ष की दाता है।

प्रभो! आपके द्वारा कथित शुद्धात्मद्रव्य जिसकी प्रतीति में आया, उसकी प्रतीति में सिद्ध को आना ही पड़ेगा। शुद्धद्रव्य की प्रतीति करनेवाले को पर्याय में सिद्धपद प्रगट होता ही है।

आहा...हा...! जगत के तत्त्व और उनमें सर्वोत्कृष्ट भगवान आत्मा का स्वभाव जैसा है, वैसा जिनेन्द्र भगवान ने प्रसिद्ध किया है। उसे पहचान कर, हे जीव! तेरी पर्याय में तू सिद्ध को प्रसिद्ध कर।

तेरे तत्त्व में जो भाव हैं, उनका यह वर्णन है। द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु कैसी है और साधक की दशा में कैसे भाव होते हैं? – यह सब बात एक गाथा में आचार्यदेव ने समझा दी है। यह तो सिद्धान्त

के सूत्र हैं। इनमें गम्भीर भाव भरे हुए हैं। वाह! दिगम्बर सन्तों की कथनी ही कोई अलौकिक है। सर्वज्ञ के उपदेश के रहस्य सन्तों ने खोले हैं। आहा...हा...! यह वीतरागी सन्तों का महा उपकार है।

आत्मा का सच्चा काम और सच्चा जीवन तो चेतना है और दश प्राण तो व्यवहार से हैं। वह आत्मा का परमार्थस्वरूप नहीं है, उसके बिना भी आत्मा जी सकता है। सिद्ध को पूर्व में, अर्थात् संसार अवस्था के समय दश प्राण थे परन्तु अभी तो वे सर्वथा नहीं हैं; द्रव्य-गुण में तो पहले से ही नहीं थे और अब पर्याय में भी उनका अभाव हुआ। जैसे, सिद्ध भगवन्तों को सुख सर्वथा है, अर्थात् एकान्तिक सुख है और दुःख सर्वथा नहीं है - ऐसा अनेकान्त कहा जा सकता है परन्तु 'सिद्ध भगवान को कथञ्चित् सुख है और कथञ्चित दुःख है' ऐसा अनेकान्त तो सिद्ध को लागू नहीं होता।

जैनदर्शन में 'सर्वथा' शब्द हो ही नहीं – ऐसा तो नहीं है। वस्तुस्थिति का नियम बतलाने को 'सर्वथा' शब्द भी प्रयुक्त होता है। जैसे कि 'सिद्ध भगवन्त सर्वथा, अर्थात् एकान्ततः सुखी हैं' इसमें 'सर्वथा' शब्द होने पर भी कोई दोष नहीं है, अपितु वह तो वस्तुस्वरूप बतलाता है। लोग तो वस्तुस्वरूप समझे बिना, अनेकान्त के नाम से गड़बड़ करते हैं। यहाँ तो अनेकान्त के अनुसार जीव के द्रव्य-पर्याय का और पाँच भावों का स्वरूप समझाकर, मोक्षमार्ग कैसे सधता है? – यह बतलाना है।

पारिणामिकभाव के जो तीन प्रकार कहे, उनमें भव्यत्व लक्षण पारिणामिक का तो यथासम्भव सम्यक्त्वादि जीव

गुणों का घातक-घाति और सर्वघाति, ऐसा नामवाला मोहादिकर्म सामान्य पर्यायार्थिकनय से ढँकता है – ऐसा जानना। वहाँ जब कालादि लब्धि के वश से भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति होती है, तब यह जीव, सहज शुद्धपारिणामिक –भाव लक्षण निज कारणपरमात्मा के सम्यग्श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप पर्याय से परिणमता है; वह परिणमन, आगम-भाषा से औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक, ऐसे भावत्रय कहलाता है और आध्यात्मभाषा से शुद्धात्माभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग इत्यादि पर्याय संज्ञा प्राप्त करता है।

देखो, पहले पारिणामिकभाव कहा और अब इसमें मोक्षमार्ग के तीन भावों की बात करते हैं। धर्मी होने से पहले अनादि से मोहकर्म के निमित्त से जीव ने अपने सम्यक्त्वादि गुणों का घात किया था, इसलिए मोक्ष के कारणरूप तीन भाव उसे नहीं थे परन्तु अब ज्ञानी के निमित्त से स्वसन्मुख होकर आत्मलब्धि की, वहाँ पुरुषार्थ-स्वकाल इत्यादि लब्धियाँ भी हो गयीं, अर्थात् मोक्षमार्गरूप औपशमिक आदि भाव प्रगट हुए। इस प्रकार सम्यक्त्वादि प्राप्त होने पर, भव्यत्व का परिपाक हुआ कहा जाता है।

अज्ञानदशा में जीव स्वयं शुद्धनय अनुसार स्वसन्मुख होकर सम्यक्त्वादि भावोंरूप परिणमित नहीं हुआ, तब मिथ्यात्वादि कर्म उसे सम्यक्त्वादि गुणों के घात में निमित्त हुए। मिथ्यात्व, केवलज्ञानावरण आदि कितनी ही प्रकृतियाँ सर्वघाति हैं; सम्यक्त्व –मोहनीय तथा चार ज्ञानावरणादि कितनी ही प्रकृतियाँ देशघाति हैं। जो चार अघाति प्रकृतियाँ हैं, वे यद्यपि प्रतिजीवीगुणों को

आच्छादित करती है परन्तु ज्ञानादि अनुजीवीगुणों को वे घातती नहीं हैं; इसलिए वे अघाति हैं। इस प्रकार समुच्चयरूप से इन मोहादिक में यथासम्भव, अर्थात् भूमिकानुसार जीव-गुणों को, अर्थात् सम्यक्त्वादि को आच्छादित करती है। यह औदायिकभाव है।

अब, वह आवरण दूर कैसे होता है? पारिणामिकरूप निज परमस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी भावना करने से मोक्ष-कारणरूप ऐसे औपशमिकादि भाव प्रगट होते हैं और मिथ्यात्वादि औदयिकभाव मिट जाते हैं, तब भव्यत्वभाव व्यक्त हुआ – ऐसा कहा जाता है। शुद्धजीवत्व पारिणामिक तो सदा निरावरण है, बन्ध-मुक्ति से निरपेक्ष है परन्तु इस भव्यत्व लक्षणरूप पारिणामिकभाव में ढँकना और प्रगट होना, ऐसे दो प्रकार कहे, वह पर्यायार्थिकनय का विषय है।

देखो, इन पाँच भावों के वर्णन में तो बहुत बात आ जाती है। त्रिकाली आत्मद्रव्य कैसा है? उसकी भूलदशा कैसी है और भूल मिटने पर आनन्ददशा होती है, वह कैसी है? – ये सब पाँच भावों में आ जाता है। आत्मद्रव्य, वह पारिणामिकभाव; भूलदशा, वह औदयिकभाव; भूल मिटकर आनन्ददशा प्रगट हुई, वह उपशम-क्षयोपशम-क्षायिकभाव है।

* मोक्ष के पन्थ में गमनशील जीव, सबसे पहले उपशम-सम्यक्त्व प्रगट करता है, उसके साथ सम्यग्ज्ञान क्षायोपशमभावपने होता है। उपशमभाव में उदय का अभाव है और चैतन्य की शान्ति है। अनादि का मिथ्यादृष्टि जीव, सर्व प्रथम जब चैतन्यस्वभाव का अनुभव करता है, तब मिथ्यात्व का उपशम होता है। उपशमभावरूपी अमृत द्वारा मिथ्यात्व का जहर दूर हो जाता है –

यह अपूर्ण दशा है और मोक्ष का कारण है। इस उपशमभाव के साथ शुद्धोपयोग होता है।

* मोक्षमार्ग में क्षायोपशमिकभाव है। यहाँ अनादि की अज्ञानदशा में जो ज्ञानादिक का क्षयोपशमभाव होता है, वह नहीं लेना परन्तु उपशमसम्यक्त्वपूर्वक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में जो क्षयोपशम-भावरूप निर्मल ज्ञानपर्याय है, वह मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्गी जीव को साधकदशा में ऐसा क्षायोपशमिकभाव अवश्य आता है।

* क्षायिकभाव है, वह तो कर्म के सर्वथा क्षयरूप सम्पूर्ण शुद्धदशा है, वह मोक्षमार्गरूप है तथा मोक्षरूप है। मोक्षदशा में भी क्षायिकभाव कायम रहता है।

* औदयिकभाव तो मलिन परिणाम है, वह कर्म के उदयसहित है। राग-द्वेष-मोह तथा योग का कम्पन, वह उदयभाव है। जितने शुभाशुभभाव हैं, वे सभी उदयभाव में समाहित होते हैं; मोक्ष के कारण में वे नहीं आते। जहाँ तक उदयभाव है, वहाँ तक संसार है। उदयभाव का सर्वथा अभाव होने पर सिद्धदशा प्रगट होती है, वहाँ निमित्तरूप कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है। सिद्धदशा प्रगट न हो, तब तक जीव को 'असिद्धत्व' नामक औदयिकभाव होता है।

(ये चार भाव, पर्यायरूप हैं, उनमें कर्म की उदयादि अवस्थाएँ निमित्तरूप हैं; इसलिए ये चार भाव, सापेक्ष हैं।)

* पाँचवाँ भाव, शुद्धपारिणामिकभाव है, वह द्रव्यरूप है, उसमें कर्म की अपेक्षा न होने से वह निरपेक्ष है। यद्यपि द्रव्य और पर्याय, दोनों परस्पर सापेक्ष हैं परन्तु 'द्रव्यात्म लाभरूप पारिणामिकभाव' में पर की अपेक्षा नहीं है; इसलिए उसे निरपेक्ष कहा है।

पाँच भावों को भलीभाँति पहचानने से नव तत्त्व इत्यादि की भी समझ हो जाती है। यह तो आत्मा के भाव की मूलवस्तु है। अपने भाव की पहचान तो जीव को करनी चाहिए न! घर में क्या -क्या वैभव है, उन सबका कैसा ध्यान रखता है! कौन सी चीज कितनी मूल्यवान है, यह सब भलीभाँति लक्ष्य में रखता है परन्तु वह वैभव तो जड़ हैं। भाई! तेरे आत्मा के खजाने में कैसे-कैसे भाव भरे हैं, उसे तो पहचान। उसमें किस भाव की कितनी कीमत है, यह भलीभाँति लक्ष्य में ले और उसमें से ध्येयरूप परमभाव को ध्यान में ले तो तुझे मोक्षवैभव प्राप्त होगा। यही तेरा वास्तविक वैभव है, खजाना है।

आत्मा के पाँच भाव, उनमें से चार भाव तो उत्पाद-व्ययरूप हैं और पञ्चम भाव ध्रुवरूप है। आत्मा को ध्रुवभाव से देखने पर उसमें उत्पाद-व्यय दिखायी नहीं देते; इसलिए यह कहा है कि क्षायिकभाव के स्थान भी आत्मा में नहीं है। द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से ऐसा कहा है कि द्रव्य को देखनेवाली दृष्टि में पर्याय के भेद दिखायी नहीं देते हैं परन्तु पर्याय अपेक्षा से तो वे क्षायिकादि भाव, आत्मा की पर्याय हैं; वे कहीं आत्मवस्तु से भिन्न अन्यत्र नहीं रहते। द्रव्य-पर्याय, दोनों की सापेक्षतारूप वस्तु है, उसमें चौदह गुणस्थान, चौदह मार्गणास्थान – ये सब प्रकार जीव की पर्यायरूप हैं। जीव का शुद्ध जीवत्वरूप पारिणामिकपना, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है – ऐसा शुद्धपरमभाव समस्त जीवों में शक्तिरूप त्रिकाल है। ऐसा शुद्धस्वभाव जहाँ दृष्टि में आया, वहाँ सम्यक्त्वादि प्रगट होते हैं और तब भव्यत्वशक्ति व्यक्त हुई – ऐसा कहा जाता है। भव्यत्व तो उस जीव में पहले से था परन्तु निज स्वभाव का

भान होने पर, वह व्यक्त होकर परिणमित हुआ। मोक्ष की जो योग्यता थी, वह कार्यरूप होने लगी। अब अल्प काल में सिद्धदशा प्रगट हो जाएगी। शक्तिरूप से सिद्धपना तो समस्त जीवों में है, उसका स्वीकार करने से पर्याय में सिद्धदशा हो जाती है।

जब आत्मा अपने स्वभावसन्मुख परिणमित हुआ, तब वह स्वरूप की लब्धि का काल है। 'कालादि' लब्धि कहने से उसमें स्वसन्मुख पुरुषार्थ भी साथ ही है। ज्ञान, श्रद्धा आदि अनन्त गुणों का कार्य, उस काल में एक साथ वर्तता है – ऐसी मोक्ष की क्रिया है। मोक्ष के कारणरूप भाव, वह पर्याय है और उनके ध्येयरूप पारिणामिकस्वभाव है। अन्तर्मुख होकर अपने सहज शुद्ध परमस्वभावी पारमार्थ तत्त्व की सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-अनुचरण, वह मोक्ष का कारण है; इसके अतिरिक्त शुभराग इत्यादि उदयभाव या शरीर की क्रिया इत्यादि जड़भाव, वह मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष के कारणरूप शुद्धरत्नत्रयपरिणाम औपशमिक आदि तीन भावरूप होते हैं। उनमें उदयभाव का अभाव है। ऐसी मोक्षमार्गपर्याय को अध्यात्मभाषा से शुद्धात्मसन्मुखपरिणाम अथवा शुद्धोपयोग कहते हैं। उसे दूसरे भी अनेक नामों से कहा जा सकता है।

मोक्षमार्ग और मोक्ष – ये पर्यायरूप हैं; द्रव्यरूप नहीं हैं। द्रव्य तो कोई नया करना होता नहीं है, मोक्षपर्याय नयी करनी होती है। मोक्षपर्याय तो क्षायिकभावरूप है, उसके कारणरूप मोक्षमार्ग पर्याय में औपशमिक आदि तीन भाव होते हैं। पारिणामिक परमभाव तो कहीं मोक्षरूप या मोक्षमार्गरूप नहीं हैं। मोक्षदशा न हो तब, या मोक्षदशा हो तब – दोनों समय पारिणामिकस्वभाव से देखने पर आत्मा एकरूप है।

अनन्त चैतन्यशक्ति से भरपूर आत्मा, चमत्कारिक वस्तु है। अलौकिक धर्मों का भण्डार आत्मा है परन्तु जीवों को उसका पता नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि चैतन्य का गुप्त चमत्कार सृष्टि के लक्ष्य में नहीं है।

भाई! तुझमें गुप्त रही हुई तेरी परम शक्ति, सन्त तुझे बतलाते हैं। परम पारिणामिकभावरूप अपना जो परमात्मस्वभाव है, उसके सन्मुख परिणमते हुए शुद्धभावरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है, उसे शुद्धात्मपरिणाम कहो, रत्नत्रयधर्म कहो, शुद्ध उपादान कहो, शुद्धोपयोग कहो, परम अहिंसा कहो, उपशमादि भाव कहो, साधकभाव कहो, ज्ञायकभाव कहो, वीतरागीविज्ञान कहो, अकर्ताभाव कहो, वीतरागभाव कहो, मोहक्षोभरहित परिणाम कहो, ध्यान कहो, परमात्मतत्त्व की भावना कहो, आराधना कहो, सच्चा सुख कहो – ऐसे अनेक नाम कहे जा सकते हैं परन्तु उनमें कहीं राग नहीं आता, पराश्रय नहीं आता; स्वाधीनरूप से स्वसन्मुख होकर निजनिधान को प्रगट करे, ऐसा आत्मा है।

निजाधीन निधान से भरपूर आत्मा को दृष्टि में लेने से निधान खुलते हैं। मोक्षमार्ग के जो परिणाम हैं, वे शुद्धात्मा के सन्मुख हैं और शुभाशुभराग से विमुख हैं। अरे...! आत्मा से विमुख ऐसे राग से जो मोक्षमार्ग मानता है, वह परसन्मुखता छोड़कर स्वसन्मुख कब होगा और उसे मोक्षमार्ग कैसे प्रगट होगा?

पर्याय, स्वयं ध्रुवस्वभाव में एकाग्र होकर अपने परमानन्द स्वरूप का साक्षात्कार करती है, वह मोक्षमार्ग है। उसके अनेक नाम हैं। द्रव्यसंग्रह में उसका सरस कथन किया है। वहाँ कहते हैं – सहज शुद्धज्ञान-दर्शनमय स्वभाव परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान

-ज्ञान-अनुचरणरूप अभेद रत्नत्रयात्मक परमसमाधि में प्रगट होते सर्व प्रदेशों में आह्लादकारी सुख के आस्वादरूप परिणतिसहित – ऐसे निजात्मा में रक्त-परिणत-तल्लीन – उसमें एकाग्रचित्त तन्मय होता है, वह निश्चय से परमोत्कृष्ट ध्यान है। उस ध्यान में स्थित जीवों को जो वीतराग परमानन्द सुख अनुभव में आता है, वही निश्चयमोक्षमार्ग का स्वरूप है। उसे ही दूसरे पर्याय नामों से क्या-क्या कहा जाता है ? वह यहाँ बतलाते हैं। उसका नाम है परमात्म ध्यान नाममाला और यह नाममाला यथासम्भव, सर्वत्र लगाने को कहा है।

(1) वही शुद्धात्मस्वरूप है, (2) वही परमात्मस्वरूप है, (3) वही सुखामृत सरोवर के परमहंसस्वरूप है, (4) वही परमब्रह्मस्वरूप है, (5) वही परमविष्णुस्वरूप है,* (*विष्णु = स्व गुणों में व्यापक) (6) वही परमशिवस्वरूप है* (*शिव = आत्मकल्याण), (7) वही परमबुद्धस्वरूप है * (*बुद्धस्वरूप = ज्ञानस्वरूप), (8) वही परम जिनस्वरूप है, (9) वही परम स्वात्मोपलब्धिलक्षण सिद्धस्वरूप है, (10) वही निरञ्जनस्वरूप है, (11) वही निर्मलस्वरूप है, (12) वही स्वसम्वेदनज्ञान है, (13) वही परम तत्त्वज्ञान है, (14) वही शुद्धात्मदर्शन है, (15) वही परमावस्थास्वरूप है, (16) वही परमात्मा का दर्शन है, (17) वही परमात्मा का ज्ञान है, (18) वही परमावस्थारूप परमात्मा का स्पर्शन है, (19) वही ध्येयभूत-शुद्ध पारिणामिक-भावरूप है, (20) वही ध्यानभावनास्वरूप है, (21) वही शुद्धचारित्र है, (22) वही परम-पवित्र है, (23) वही अन्त:तत्त्व है, (24) वही परमतत्त्व है, (25) वही शुद्धात्मद्रव्य है, (26) वही

परमज्योति है, (27) वही शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, (28) वही आत्मा की प्रतीति है, (29) वही आत्मा की संवित्ति है, (30) वही स्वरूप की उपलब्धि है, (31) वही नित्यपदार्थ की प्राप्ति है, (32) वही परमसमाधि है, (33) वही परमानन्द है, (34) वही नित्यानन्द है, (35) वही सहजानन्द है, (36) वही सदानन्द है, (37) वही शुद्धात्म पदार्थ के अध्ययनरूप है, (38) वही परम स्वाध्याय है, (39) वही निश्चयमोक्ष का उपाय है, (40) वही एकाग्रचिन्तानिरोध है, (41) वही परमबोध है, (42) वही शुद्धोपयोग है, (43) वही परमयोग है, (44) वही भूतार्थ है, (45) वही परमार्थ है, (46) वही निश्चय पञ्चाचार है, (47) वही समयसार है, (48) वही अध्यात्मसार है, (49) वही समता आदि निश्चयषड्आवश्यकस्वरूप है, (50) वही अभेदरत्नत्रय -स्वरूप है, (51) वही वीतराग सामायिक है, (52) वही परम शरण-उत्तम-मङ्गल है, (53) वही केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, (54) वही समस्त कर्मों के क्षय का कारण है, (55) वही निश्चय-चतुर्विध-आराधना है, (56) वही परमात्मा की भावना है, (57) वही शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न, सुख की अनुभूति परमकला है, (58) वही दिव्यकला है, (59) वही परम अद्वैत है, (60) वही परम अमृतरूप परम-धर्मध्यान है, (61) वही शुक्लध्यान है, (62) वही रागादि विकल्परहित ध्यान है, (63) वही निष्कल / शरीररहित ध्यान है, (64) वही परम-वीतरागपना है, (65) वही परम-साम्य है, (66) वही परम-एकत्व है, (67) वही परम-भेदज्ञान है, (68) वही परम-समरसीभाव है।

इस प्रकार समस्त रागादि विकल्प-उपाधि से रहित

परमआह्लादरूप एक सुख जिसका लक्षण है – ऐसे ध्यानरूप निश्चयमोक्षमार्ग के वाचक अन्य भी पर्यायवाची नाम परमात्मतत्त्व के ज्ञानियों द्वारा जानने योग्य हैं। *(वृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा 56 टीका)*

ज्ञानियों ने अनेक प्रकार के कथन से वस्तुस्वरूप समझाया है। किसी भी प्रकार से वस्तुस्वरूप समझ ले, उसमें सब आ जाता है। तिर्यञ्च आदिक को भले ही इतने सब नाम या भाषा न आवे, परन्तु उपयोग को अन्तर्मुख करके अतीन्द्रिय आत्मा को अनुभव में ले लिया है, उसमें इन सब नामों का वाच्यभाव समाहित हो गया है। भाषा के शब्दों में तो कहीं वाच्य नहीं है, उनका वाच्य तो ज्ञानी के अनुभव में है। जैसे, 'आत्मा' यह तो ढाई अक्षर हुए, परन्तु उनका वाच्य तो अनन्त गुण के भावों से भरा हुआ है। इसी प्रकार धर्मी के अन्तर की दशा को अलग-अलग चाहे जिन नामों से बतलाओ, परन्तु उनका वाच्यरूप भाव तो समस्त ज्ञानियों के अन्तर में समान है।

अहो! यह तो आत्मा के निजघर की कोई अद्भुत बातें हैं। मानो इस बाहर की दुनिया से किसी दूसरी ही अन्तर की दुनिया में सन्त ले जाते हैं... और आत्मा के दिव्यस्वरूप का दर्शन कराते हैं.... विराटस्वरूप दिखलाते हैं। साढ़े तीन हाथ की इस चैतन्य - गुफा में तीन लोक का नाथ चैतन्य परमेश्वर विराजमान हैं। यह उसका साक्षात्कार करने की बात है।

जीवतत्त्व त्रिकाली रहनेवाला, उसकी अधर्मदशा में क्या था और धर्मदशा होने पर क्या होता है? ये दोनों बात यहाँ समझायी हैं। जीव, अशुद्धतारूप परिणमता था, उसमें मोहादि कर्म निमित्त थे और अब शुद्धात्मसन्मुख होकर मोक्षमार्ग प्रगट करने की बात

आयी, मोक्षमार्ग प्रगट हो, तब भव्यत्वशक्ति व्यक्त हुई कहलाती है। अन्दर शक्तिरूप जो योग्यता थी, वह पर्याय में प्रगट हुई। वह प्रगट होने के समय पाँचों लब्धियाँ एक साथ होती है; इसलिए अकेली काललब्धि न कहकर, कालादि लब्धिवश – ऐसा कहा है।

मोक्षमार्ग प्रगट होने के समय वैसा पुरुषार्थ, स्वभाव, स्व-पर्याय का काल, नियत और निमित्तरूप कर्म के क्षयादिक – ऐसे एक साथ पाँच लब्धियाँ होती हैं। प्रत्येक पर्याय में पाँच लब्धियाँ एक साथ काम करती हैं। इसमें अकेले काल के सन्मुख देखना नहीं रहा। इस प्रकार लब्धि के वश भव्यत्वशक्ति व्यक्त होती है, अर्थात् जीव, शुद्धस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके मोक्षमार्गरूप परिणमित होता है। स्वभाव में मोक्ष होने की जो योग्यता थी, वह पर्याय में प्रगट होनी लगी, उसे उपशमादि तीन भाव कहते हैं अथवा शुद्धात्मसन्मुख परिणाम इत्यादि अनेक नाम कहे जाते हैं। ऐसा भाव प्रगट हो, वही मोक्ष का साधन है।

जीव की पर्याय में अशुद्धता के समय मोहादि कर्म का उदय निमित्त है – ऐसा बतलाया और शुद्धता होने के समय शुद्धात्म-सन्मुख परिणाम है – ऐसा बतलाया; उस समय कर्म में भी उपशमादि होते हैं; इसलिए आगमभाषा से उस निर्मलभाव को औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक कहा जाता है तथा आत्मा की ओर से कहो तो; अर्थात्, अध्यात्मभाषा में कहो तो उसे शुद्धोपयोग, परमात्मभावना, आत्मानुभूति इत्यादि कहा जाता है। आत्मा में तो अनन्त गुण के भाव भरे हैं, भाषा में तो अमुक ही आते हैं। उससे अन्तर्मुख ज्ञान द्वारा स्वयं वस्तुस्वरूप लक्ष्य में ले लेवे तो समझ में आये। वस्तु सूक्ष्म है; इसलिए उसकी समझ की बात

भी सूक्ष्म ही होगी और ज्ञान में भी सूक्ष्म समझने की ताकत है। भले सूक्ष्म है परन्तु कहीं यह समझ में न आवे – ऐसा नहीं है।

जीव की अशुद्धता में अनेक प्रकार हैं; वैसे ही सामने निमित्तरूप कर्मप्रकृति में भी अनेक प्रकार हैं। मोहादि कर्मों में कितनी ही प्रकृति देशघाति है और कितनी ही सर्वघाति है। जिसके उदय में गुण का सर्वथा घात हो, अर्थात् उसकी निर्मलता प्रगट न हो, उसे सर्वघाति कहा जाता है; जैसे कि मिथ्यात्व-मोह, केवलज्ञानावरण इत्यादि सर्वघाति हैं और जिनके उदय से गुण का सर्वथा घात न हो, परन्तु उसकी शुद्धता में जरा दोष लगे – पूर्ण शुद्धता होने न दे, परन्तु एक अंश का घात करे, उसे देशघाति कहते हैं; जैसे कि सम्यक्त्व-मोहनीयप्रकृति, वह देशघाति है। उसका उदय होने पर भी जीव को सम्यग्दर्शन तो होता है परन्तु उसमें जरा दोष लगता है, अर्थात् सर्वथा शुद्धतारूप क्षायिकसम्यक्त्व वहाँ नहीं होता, परन्तु क्षायोपशमिकसम्यक्त्व होता है। गुण का निर्मल अंश तो प्रगट हुआ, परन्तु उसकी पूर्ण शुद्धता न हुई, अर्थात् एक अंश का घात हुआ; इस कारण उस प्रकृति को निमित्तरूप से 'देशघाति' कही है। स्वसन्मुख होकर गुण के साथ जो शुद्धि प्रगट हुई है, उसे कोई कर्म नहीं ढँकता, उसमें तो कर्म के उपशम आदि निमित्त हैं। शुद्धभाव प्रगट हुआ, वह तो कर्म का नाशक और मोक्ष का साधक है। वह भाव, शुद्धात्मा की भावना से प्रगट होता है।

देखो भाई! आत्मा का जो परमशुद्धस्वरूप है, उसकी अलौकिक महिमा है। लोग तो बाहर की महिमा में अटक गये हैं – राग में अटक गये हैं परन्तु अन्दर चैतन्यवस्तु की अचिन्त्य महिमा जो स्वानुभवगोचर है, उसका उन्हें पता नहीं है।

एक बात श्रीमद् राजचन्द्र लिखते हैं कि हमने बहुत विचार करके यह मूल तत्त्व ढूँढा है कि चैतन्य का गुप्त चमत्कार, सृष्टि के लक्ष्य में नहीं है। देखो, यह मूलतत्त्व! तेरे तत्त्व की महिमा का गहरा विचार तो कर! गहरे उतरे बिना यूँ ही ऊपर से उसका पता नहीं लगता।

प्रत्येक आत्मा आनन्दमय अमृतरस से परिपूर्ण है। अन्दर के स्वभाव की शक्ति, जगत को ख्याल में नहीं है। रागादि परभावों को ही जीव ने भाया है परन्तु अन्तर्मुख होकर अपने स्वभाव को कभी उसने भाया नहीं है। अब यहाँ तो उस स्वभाव की भावना करके मोक्षमार्ग प्रगट होता है, उसकी बात है। निज परमात्मतत्त्व के आश्रय से भव्यजीव को शुद्धात्म के श्रद्धा-ज्ञान -चारित्र प्रगट होते हैं, उन्हें भावत्रय कहा जाता है और वह मोक्ष का कारण है। उदयभाव तो बन्धमार्ग में गया और पारिणामिक, निष्क्रिय रहा।

मोक्षमार्ग की क्रियारूप शेष तीन भाव रहे, उनकी यह बात है।

इन पाँच भावों में तो द्रव्य-गुण-पर्याय, बन्ध-मोक्ष, मोक्षमार्ग सब आ जाता है। आत्मा के परमस्वभाव के सन्मुख होने पर जो शुद्धता प्रगट हुई, उसे शास्त्रभाषा से या आत्मभाषा से अनेक नाम कहे जाते हैं। उनमें से बहुत नाम, पूर्व में कहे जा चुके हैं।

शुद्धद्रव्यार्थिकनय से तो आत्मा सदा निरावरण पारिणामिक -भावरूप है; आवरण और उघाड़ तो पर्यायदृष्टि से है और उसमें कर्म के उदयादि निमित्त हैं। पर्याय स्वयं शुद्ध परिणमित नहीं हुई, तब कर्मों ने आच्छादित किया – ऐसा व्यवहार है। ज्ञानपर्याय स्वयं हीन होकर परिणमित हुई, तब उसमें ज्ञानावरण का उदय

निमित्त है और आत्मा स्वयं केवलज्ञानरूप परिणमित हुआ, तब उसमें ज्ञानावरण का क्षय निमित्त है। शास्त्र में निमित्त से और व्यवहार से बहुत कथन होते हैं; उनका अर्थ करने की विधि / पद्धति समझना चाहिए। दो द्रव्यों की भिन्नता का लक्ष्य भलीभाँति रखकर, अर्थ समझना चाहिए।

प्रवचनसार गाथा 245 में 'गृहस्थ को शुभराग मुख्य होता है और उसके द्वारा वह मोक्षसुख पाता है' – ऐसा कहा है, वह उपचार से कहा है परन्तु अज्ञानी उसका सच्चा अर्थ नहीं समझकर अकेले राग को ही वास्तव में मोक्ष का कारण मान लेता है। 'शुभराग को मुख्य कहा' तो उसी समय गौणरूप से श्रावक को शुद्धात्मानुभव होता है और वह शुद्धात्मा का अनुभव ही मोक्ष का सच्चा कारण है – ऐसा जानना चाहिए। राग कहीं मोक्ष का कारण नहीं है।

यदि शुभराग, श्रावक को मोक्ष का कारण हो जाता हो, तब तो 'तू वीतरागचारित्र को अंगीकार कर'– ऐसा उपदेश ही उसे किसलिए देंगे। इस 254 वीं गाथा में ही आचार्यदेव ने शुभोपयोग को 'शुद्धात्मपरिणति से विरुद्ध' कहा है। उसे कषाय कहा है तो वह मोक्ष का कारण कैसे होगा? गृहस्थ धर्मात्मा को शुद्धात्मानुभूति होती है, उसका उपचार करके, उसके साथ के शुभोपयोग को भी मोक्ष का कारण कहा है परन्तु जिसे शुद्धात्मानुभूति नहीं है, उसे तो शुभराग, उपचार से भी मोक्ष का कारण नहीं कहलाता; इसलिए मोक्ष का वास्तविक कारण तो शुद्धात्मानुभूति ही हुई। इस प्रकार शास्त्र के कथनों का यथार्थ तात्पर्य समझना चाहिए। क्या यथार्थ वस्तुस्वरूप है और क्या उपचार है? इसे न पहचाने और विपरीत

अर्थ समझकर, एक भाव को दूसरे भाव में मिला दे तो सच्ची श्रद्धा नहीं होती है।

यह बात पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में बहुत सरस समझायी है। वे कहते हैं – अरहन्तदेवरूप सच्चे देव की भक्ति करते हुए भी उनके जीवाश्रित सच्चे गुणों को अज्ञानी नहीं पहचानता; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है। यदि अरहन्त के आत्मा के यथार्थ विशेषणों को पहचाने तो वह मिथ्यादृष्टि रहे ही नहीं। अरहन्तदेव में सर्वज्ञता आदि विशेषण तो आत्माश्रित हैं और दिव्यध्वनि, परमौदारिकशरीरपना इत्यादि विशेषण, शरीराश्रित हैं। इन दोनों का भेद नहीं जानता और शरीर के धर्मों को जीव में मिलाकर एक-दूसरेरूप श्रद्धा करता है; इसलिए उसे अरहन्तदेव का सच्चा श्रद्धान नहीं है और इस कारण उसका मिथ्यात्व नहीं मिटता है।

जिसे सच्चे अरहन्तादि देव के स्वरूप का श्रद्धान होता है, उसे तत्त्वार्थश्रद्धान अवश्य होता ही है क्योंकि अरहन्त आदि के स्वरूप को पहचानने से जीव-अजीव की भिन्नता की पहचान होती है।

प्रवचनसार गाथा 80 में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने यह बात अलौकिक पद्धति से समझायी है –

जो जानता अरहन्त को, द्रव्य-गुण-पर्याय से;
वह जीव जाने आत्म को, तसु मोहक्षय पावे अरे॥

आत्मा के विशेषणों सहित देव-गुरु का यथार्थ स्वरूप जानने पर, अपने शुद्ध आत्मा का स्वरूप भी जीव को लक्ष्य में आता है, और मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यक्त्व होता है। वरना देव-गुरु की ओर का अकेला शुभभाव कहीं सम्यक्त्व नहीं है।

अरहन्त के आत्मा में आत्माश्रित गुणों को और शरीराश्रित गुणों को जो भिन्न-भिन्न पहचानता है, वह अपने आत्मा को भी पर से और राग से भिन्न क्यों नहीं पहचानेगा? – अवश्य पहचानेगा। इसलिए जिसे आत्माश्रित भावों से अरहन्तादिक का सच्चा श्रद्धान होता है, उसे तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यक्त्व अवश्य होता ही है।

प्रवचनसार में अलिंगग्रहण के बीस अर्थों में भी कहा है कि ज्ञानी के आत्मा की पहचान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञानपूर्वक ही होती है। अपने में अतीन्द्रिय स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होवे, उस प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान हो, वह सच्चा होता है परन्तु प्रत्यक्ष के बिना अकेले अनुमान से अतीन्द्रिय आत्मा की वास्तविक पहचान नहीं होती है।

यहाँ जीव के भावों का वर्णन चल रहा है। उसे यथार्थ पहचानने से भेदज्ञान होता है। आत्मा को जब सम्यग्दर्शन नहीं था, तब उसकी भव्यत्वशक्ति आवरणरूप थी और अब स्वसन्मुखभाव द्वारा सम्यग्दर्शनादि होने पर वह भव्यत्वशक्ति व्यक्त हुई, उस समय पाँचों लब्धियाँ एक साथ वर्तती हैं। स्वभाव के लक्ष्य से पुरुषार्थ हुआ, वहाँ भव्यत्व भी पक गया। वही सम्यक्त्वादि लब्धि का काल है। पहले पर्याय में अशुद्धता की योग्यता थी, तब आवरण था; अब शुद्धता प्रगट हुई, वहाँ आवरण मिटा। आवरण होना और मिटना – वह पर्याय में है। द्रव्यस्वभाव में तो घात होने का या प्रगट होने का नहीं है। एकरूप द्रव्यस्वभाव को देखनेवाली दृष्टि, अपने आत्मा को मुक्त ही देखती है; इसलिए उस दृष्टि की अपेक्षा **स हि मुक्त एव** – अर्थात्, वह मुक्त ही है – ऐसा कहा है।

मोक्षमार्गी जीव, अर्थात् धर्मीजीव, अपने परमात्मद्रव्य के

सन्मुख होकर उसके श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हुआ है। यदि बाहर में दूसरे परमात्मा के सन्मुख देखने जाए तो राग का विकल्प उठता है और यदि सूक्ष्म दृष्टि से उनके आत्मा का स्वभाव देखे तो उनके समान अपने परमशुद्धस्वभाव की पहचान हो तो अपने स्वभाव के सन्मुख दृष्टि हो जाए। इस प्रकार जब स्वसन्मुख होकर निज परमात्मद्रव्य का अनुभव करता है, तब उस जीव को औपशमिकादि निर्मलभाव प्रगट होते हैं। उसे शुद्धात्मसन्मुख परिणाम अथवा परमात्मभावना इत्यादि अनेक संज्ञा है। वे भाव, मोक्ष का कारण हैं।

मोक्ष, वह पर्याय है और उसका कारण भी पर्याय है। कभी अभेददृष्टि से अभेदद्रव्य को भी मोक्ष का कारण कहते हैं। यहाँ पारिणामिकभाव को बन्ध-मोक्ष के कारणरहित बतलाना है और औपशमिक आदि तीन भावों को मोक्ष के कारणरूप बतलाना है; इसलिए मोक्ष के कारण-कार्य दोनों पर्यायरूप हैं। अपना जो सहज परमस्वभाव परमपारिणामिकभावरूप कारणपरमात्मा है, उसमें एकाग्र होकर परिणमित होना, वह मोक्षमार्ग है; उस मोक्षमार्ग में शुभराग का प्रवेश नहीं है। शुभराग हो तो भी वह मोक्षमार्ग से बाहर है, अर्थात् बन्धमार्ग में उसका स्थान है। अखण्ड आत्मस्वभाव की सन्मुख के श्रद्धा-ज्ञान-आचरणरूप जो परमार्थ वीतराग मोक्षमार्ग है, उसमें बीच में व्यवहार का या राग का अवलम्बन नहीं है; बीच में राग आवे तो वह मोक्ष के कारणरूप नहीं है परन्तु बन्ध के कारणरूप है, वह उदयभाव है और मोक्षमार्ग तो औपशमिक आदि भावरूप है।

उदयभाव, अर्थात् विकारभाव, वह बन्धमार्ग का भाव है; वह

मोक्षमार्ग का भाव नहीं है; मोक्षमार्ग तो निज परमात्मद्रव्य के आश्रय से होनेवाले वीतरागभावरूप है। देखो तो सही, बन्ध और मोक्ष के भावों का कितना स्पष्ट पृथक्करण किया है!

सहज निरावरण निज परमात्मद्रव्य की सन्मुखता से मोक्षमार्ग खुलता है। परसन्मुखता में शुभराग है, वह मोक्ष का कारण नहीं है; मोक्षमार्ग तो निराकुल सुखरूप है। अतीन्द्रिय सुख के वेदनसहित मोक्षमार्ग शुरु होता है। पुण्यभाव, मोक्षमार्ग में जरा भी नहीं है, वह बन्धमार्ग में ही है; मोक्षमार्ग तो रागरहित परिणाम है। आत्मा की ओर झुका हुआ जो शुद्धभाव-वीतरागभाव, वह जरा भी बन्ध का कारण नहीं है। राग तो आकुलता है, बन्धन है। आचार्यदेव ने इस गाथा में कहा है कि विशुद्धज्ञान, कर्म के बन्ध-मोक्षादि को अथवा रागादिक को कर्ता नहीं है; 'जानता ही है' – यह जाननेरूप क्रिया, मोक्षमार्ग है। जाननेवाले ज्ञायकस्वभाव को देखते ही मोक्षमार्ग का द्वार खुल जाता है।

निजाधीन चैतन्यनिधान में अन्तर्दृष्टि करने से आत्मा, राग से भिन्न पड़ता है और वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान शान्तिरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है, वही धर्म है; इससे विरुद्ध दूसरा कोई भी मार्ग कहे तो वह तत्त्व से विरुद्ध है, अर्थात् अधर्म है। राग का प्रेम छोड़कर चैतन्य के प्रेम में जो एकाग्र हुआ, वह अपने ध्रुवस्वभाव में अभिमुख हुआ, स्वभावसन्मुख हुआ, उपशमादिभावरूप हुआ, शुद्ध उपादानरूप परिणमित हुआ – ऐसे तेरह जितने अलग-अलग नामों से इस टीका में उसकी पहचान करायी है परन्तु उसमें कहीं शुभराग नहीं है।

जो शुभराग है, वह शुद्धात्माभिमुख परिणाम नहीं है, वह तो

शुद्धात्मा से विमुख परिणाम है और परसन्मुख परिणाम है। उस शुभ में एकाग्रता को धर्मध्यान, व्यवहार से ही कहा है; वह निश्चय से धर्मध्यान नहीं है; निश्चयधर्मध्यान का विषय अपना शुद्ध आत्मा ही है। स्वसन्मुख होकर निजस्वभाव में परिणाम की एकाग्रता, वह निश्चयध्यान है।

* हिंसादि भाव तो अशुभ हैं, पाप हैं, अशुद्ध हैं;

* दयादि भाव शुभ हैं, पुण्य हैं, अशुद्ध हैं;

इस प्रकार यह शुभ या अशुभ दोनों परिणाम, आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध हैं; दोनों में से कोई मोक्षमार्ग नहीं है। अरे भाई! बाहर के परिणाम को तू अपने निजघर में डाले, वह नहीं चलता। बाह्यभाव को अन्तर के स्वभाव में मिला देगा तो तेरा सत्यस्वरूप तेरे अनुभव में नहीं आयेगा। शुभाशुभभावोंरूपी अग्नि तेरे निजघर में से प्रगट नहीं हुई है। तेरा निजघर तो चैतन्यमय है। अपने ऐसे निजघर का निर्णय करने की भी जिसकी सामर्थ्य नहीं है, वह स्वरूप का अनुभव कब करेगा और उसमें कब स्थिर होगा? अहो! ऐसी वस्तुस्थिति.... अपने को अपने निजघर में ही प्रवेश करना है। उसमें किसी वाद-विवाद का कहाँ अवकाश! सद्गुरु कहे सहज का धन्धा.... वस्तु के सहज स्वरूप में वाद-विवाद का विकल्प कैसा? सहज आनन्द की मूर्ति भगवान आत्मा.... उसके सन्मुख होने पर सब समाधान हो जाता है।

देखो, यह संक्षिप्त में जैन सिद्धान्त का सार! शुद्धात्मद्रव्य त्रिकाल पारिणामिकभाव; उसके सन्मुख परिणाम, वह मोक्षमार्ग; उससे विमुख परिणति, वह संसार। सन्मुख परिणाम में संवर, निर्जरा, मोक्ष आये; विमुख परिणति में आस्रव, बन्ध आये। जीव

और अजीव तो त्रिकाल भिन्न तत्त्व हैं। सन्मुख-परिणाम में उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव आये; विमुख-परिणति में उदयभाव आया; त्रिकाली द्रव्य पारिणामिकभावरूप है। (स्वभाव) सन्मुख परिणाम की उत्पत्ति हुई, वहाँ विमुख परिणति का व्यय हुआ और द्रव्यरूप से ध्रुवता रही।

अहो! संक्षिप्त सूत्रों में तो जैन सिद्धान्त का गम्भीर रहस्य भर दिया है। बापू! ऐसे वस्तुस्वरूप के निर्णय बिना, दूसरे किसी प्रकार मोक्ष का मार्ग नहीं है.... नहीं है... नहीं है! शुभराग भले साधकदशा में आवे, परन्तु उससे मुक्ति नहीं है। जो उसे मोक्ष का कारण मानता है, उसे साधकदशा नहीं होती है; साधक को जितना रागरहित स्वभावसन्मुख भाव है, वही मोक्ष का कारण है।

भाई... यह समझने जैसा है। न समझ में आये – ऐसा कठिन नहीं है। तेरे ज्ञान में सब समझ सकने की सामर्थ्य है परन्तु उसके लिए ज्ञान की रुचि से, उत्साह से प्रयत्न करना चाहिए। दुकान के व्यापार में कितनी अधिक वस्तुओं के भाव याद रखता है, क्योंकि उसका प्रेम है; उसी प्रकार यदि चैतन्यवस्तु का प्रेम करके उसके भाव, अर्थात् पाँच भाव समझना चाहे तो अवश्य समझ में आ सकता है। समझने के लिए तो यह कहा जाता है। अपने में ही जो बात हो रही है, वह अपने को कैसे समझ में नहीं आयेगी? अन्तर शोध में वर्ते तो अवश्य समझ में आयेगी। संसार से थककर भगवान आत्मा की रुचि करके अन्तर शोधे कि अरे! मैं कौन हूँ? यह सब क्या है? मेरा सच्चा स्वरूप क्या है? मेरे आत्मा को शान्ति कैसे हो? ऐसे गहरे विचार करके, अन्तर में शोधने से शुद्ध -स्वभावसन्मुख-परिणाम हुए बिना नहीं रहते। बापू! बाहर के

भाव तो तूने अनन्त काल से किये हैं, अब तो परिणाम को अन्तरोन्मुख कर!

अरे! शुभराग, धर्म नहीं है – ऐसी सत्य बात कहने पर भी जो लोग भड़कते हैं, वे रागरहित स्वभाव में कैसे आयेंगे? उन्होंने धर्म की बात सुनी नहीं है, धर्म के नाम से राग की ही बात सुनी है परन्तु अपने स्वभावरूप धर्म क्या है? वह लक्ष्यपूर्वक कभी सुना नहीं है और उस प्रकार की पात्रता नहीं है; इसलिए भड़कते हैं... परन्तु भाई! तू भड़क मत! ज्ञानी तुझे तेरा पवित्र स्वभाव बतलाकर, तेरे हित की विधि समझाते हैं। राग कहाँ तेरे स्वभाव की सन्मुखता का भाव है? स्वभावसन्मुख नजर करते ही तुझे तेरा आत्मा, राग से स्पष्ट भिन्न दिखेगा। धर्म तो स्वभाव की सन्मुखता से होता है, कहीं राग से धर्म नहीं होता है।

द्रव्यरूप से शाश्वत् चिदानन्दवस्तु आत्मा की अनित्यपर्याय में दु:ख का या आनन्द का अनुभव होता है। पर्याय के पलटे बिना दु:ख मिटकर, सुख का अनुभव नहीं हो सकता; इस प्रकार वस्तु तीनों काल द्रव्य-पर्यायसहित है। वस्तु के दो पहलू हैं, वे दोनों पहलू ज्ञान में न आवे, तब तक वास्तविक तत्त्व का स्वीकार ज्ञान में नहीं आता, अर्थात् सम्यग्ज्ञान नहीं होता। चिदानन्द वस्तु में द्रव्य अवयव शाश्वत् ध्रुव पारिणामिकभावस्वरूप है और पर्याय में मिथ्यात्व अवस्था, सम्यक्त्व अवस्था, शुद्धि की वृद्धिरूप अवस्था और पूर्ण शुद्ध अवस्था – ऐसे प्रकार होते हैं। वे पर्यायें चार भावरूप, अर्थात् औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभावरूप होती हैं। उसमें से औदयिकभाव के अतिरिक्त तीन भाव, मोक्ष के हेतु हैं। चार भावों के कथन द्वारा ध्रुवद्रव्य

बतलाया – ऐसी वस्तुस्थिति है। जब तक यह वस्तुस्थिति लक्ष्य में न आवे, तब तक जीव के सब प्रयोग निष्फल जाते हैं, उसे धर्म नहीं होता है।

द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु, पूरा पदार्थ है। यदि वे दोनों न हों और अकेली अवस्था हो तो वह अवस्था किसके आधार से होगी? दूसरे समय की दूसरी अवस्थारूप कौन होगा और यदि अकेला ध्रुव ही हो, उत्पाद-व्यय न हो तो कार्य किसमें होगा? परिणमन किसमें होगा? ध्रुव तो कार्यरूप होता नहीं, कार्यरूप तो पर्याय है। जिसे अनादि का अधर्म मिटाकर, धर्मरूप कार्य करना है, उसे वह कैसे होगा? द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु को समझे तो ही होगा। उस वस्तु को यहाँ पाँच भाव द्वारा बतलाया गया है।

आत्मवस्तु में पाँच भाव, उनमें एक पारिणामिक परमभाव, वह द्रव्यरूप और दूसरे चार भाव, पर्यायरूप होने से उनमें से किस भाव से मुक्ति होती है? वह यहाँ विचार करना है।

आत्मा में ज्ञान या अज्ञान अवस्था तो अनादि से हुआ ही करती है परन्तु 'पुण्य-पाप, वह मैं; देह की क्रिया का कर्ता, वह मैं' – ऐसी भ्रान्तिदशा, वह अज्ञान-अधर्म और दुःखदशा है। देह से भिन्न और पुण्य-पाप से पार – ऐसे परमस्वभाव के सन्मुख होने से, वह अधर्मदशा मिटकर धर्मदशा होती है।

धर्म तो धर्मी में से प्रगट होता है। धर्मी-ऐसे निज चैतन्य स्वभाव पर लक्ष्य जाए, वहाँ धर्म प्रगट होता है। अनादि से एकान्ततः पर के प्रति लक्ष्य है, अर्थात् पुण्य-पाप, राग-द्वेष, हर्ष-शोक और शरीरादि ही मैं हूँ; उनका कर्ता-भोक्ता मैं हूँ – ऐसी मिथ्याबुद्धि है, वह अधर्म है, वह दुःख का मूल है; उस मिथ्याबुद्धि को छोड़कर

'मैं तो ज्ञान हूँ' – ऐसे अन्तरस्वभाव में लक्ष्य करना, धर्म है। 'लक्ष्य' स्वयं अवस्था है परन्तु उसका ध्येय, ध्रुव है। ऐसे स्वभाव -सन्मुख लक्ष्य से जो निर्मलदशा प्रगट होती है, वह मोक्ष का साधन है; उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहते हैं, उसे कालादि लब्धिवश भव्यत्व की व्यक्ति हुई – ऐसा कहो; उसे स्वसन्मुख परिणति कहो; औपशमिकादि भावत्रय कहो; या परमार्थ तत्त्व की भावना इत्यादि चाहे जिस नाम से कहो; उस स्वभावसन्मुखता में पुरुषार्थ, स्वभाव, काल इत्यादि पाँचों समवाय समाहित हो जाते हैं। यह मूलतत्त्व की बात समझने के लिए, अन्तर में आत्मा की बहुत सावधानी और एकाग्रता चाहिए।

आत्मा में मोक्ष की शक्ति, त्रिकाल है। शक्तिरूप मोक्ष सदा पारिणामिकभावपने है, वह पर्याय में व्यक्त हो, उसकी यह बात है। पर्याय में मोक्षदशा की व्यक्ति, पर्याय की सामर्थ्य द्वारा होती है, उसका कारण पर्याय है। कौन सी पर्याय? औपशमिक आदि तीन भावोंरूप। उस भावरूप से परिणमित धर्मी-आत्मा कैसा होता है? यह बात आचार्यदेव ने इस गाथा में चक्षु के दृष्टान्त द्वारा समझायी है।

आत्मा, अनन्त अमृतरस का समुद्र चैतन्यरत्नाकर है, वह नित्य ध्रुवरूप से टिकता है और उसमें उत्पाद-व्ययरूप पर्याय की तरङ्गें उल्लसित होती हैं। आत्मा का क्षेत्र भले ही अल्प, परन्तु उसमें भाव की अनन्त अपरिमितता है, अचिन्त्यतता है – ऐसे जिन भावों से भरपूर यह भगवान है, यह पूर्ण शुद्ध आनन्द अमृत का समुद्र है – ऐसे चैतन्यसमुद्र में डुबकी लगाकर भगवान आत्मा के सन्मुख होने से जो दशा प्रगटी, वह आनन्द है, वह ज्ञानमय है; उसमें रागादि परभाव का कर्ता-भोक्तापना नहीं है।

जगत् में पूर्ण दशा को प्राप्त अनन्त परमात्मा हैं, वे उनके स्वभाव में वर्तते हैं; इस आत्मा से वे पृथक् हैं। यहाँ निज परमात्मद्रव्य के सन्मुख होने की बात है। दूसरे परमात्मा की तरह मैं भी अपने पूर्ण शुद्ध आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण निज परमात्मा हूँ; इस प्रकार निज परमात्मा पर दृष्टि करने से परम कल्याण होता है। निज परमात्मा को भूलकर, पर के लक्ष्य से जीव चाहे जितना उपाय करे तो भी कल्याण नहीं होता; उसमें राग और आकुलता ही उत्पन्न होती है। भगवान आत्मा, निज परमात्मद्रव्य है, वह परमस्वभाव है, उसके सन्मुख श्रद्धा-रुचि, दृष्टि-प्रतीति, अर्थात् 'मैं' ही निज परमात्मा हूँ – ऐसी अन्तर अनुभूति, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है; उसके साथ स्वरूपाचरणरूप चारित्र होता है। निज परमात्मतत्त्व में अभेदबुद्धि, वह सम्यग्दर्शन है; निज परमात्मातत्त्व का ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है; इस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का विषय अपना आत्मा ही है और उस निजात्मा का अनुसरण, अर्थात् उसमें लीनता, वह चारित्र है। ऐसा रत्नत्रय, मोक्ष का मार्ग है।

अहो! यह तो निज परमात्मद्रव्य की भावना का घोलन है।

जीव अपने शुद्धस्वरूप को भूलकर, अनादि से परभावरूप परिणमित होता था, वह चिदानन्दप्रभु के लक्ष्य से, अपने शुद्ध स्वरूप के सन्मुख होकर परमानन्ददशा के वेदनरूप हुआ, अर्थात् निजभावरूप परिणमित हुआ। उस परिणमन धारा में कौन से भाव लागू पड़ते हैं? औपशमिक आदि तीन भाव लागू पड़ते हैं।

चार भावों में से पुण्य-पापरूप उदयभाव तो मोक्ष का कारण नहीं है। अज्ञानपूर्वक जो अनादि का क्षयोपशमभाव है, वह भी

मोक्ष का कारण नहीं है। पहले आत्मसन्मुख दृष्टि करने से उपशमभाव प्रगट होता है, उसमें आत्मशान्ति की अपूर्व मधुरता का वेदन होता है। उसके साथ का क्षयोपशमभाव भी सम्यक् क्षयोपशमभाव होकर मोक्ष का कारण होता है और तीसरा क्षायिकभाव है – ये तीनों भाव मोक्षमार्ग हैं। इन्हें शुद्धात्माभिमुख परिणाम शुद्धोपयोग अथवा परमेश्वर, परमसमाधि इत्यादि अनेक संज्ञा से पहचाना जाता है।

अन्तर्मुख होकर, स्वभाव में उपयोग को जोड़ना / एकाग्र करना ही योग की सच्ची साधना है, वही मोक्ष के लिए महान यज्ञ है, आठों कर्म उसमें भस्म हो जाते हैं। भगवान आत्मा, चैतन्य महासत्ता, महा महिमावन्त पदार्थ है, उसमें दृष्टि और एकाग्रता करनेवाला महायोगी है। परमतत्त्व में अन्तर्मुखदशा ही परमयोग है। इसके अतिरिक्त बाहर के योग (राग में एकतारूप जुड़ान), वह तो हठयोग और मिथ्यायोग हैं। अपूर्व योगविद्या तो उसे कहते हैं कि जिस विद्या के द्वारा पर से भिन्नता जानकर, आत्मस्वरूप में एकाग्रता होवे। **सा विद्या या विमुक्तये** – यही विद्या, मोक्ष का कारण है। अध्यात्मभाषा से उसे शुद्धोपयोग, परमात्मभावना इत्यादि नाम कहे जाते हैं और आगमभाषा से उसे औपशमिक आदि तीन भाव कहे जाते हैं। जिसमें आत्मासहित जगत के पदार्थों का, उनके गुण-पर्यायों का स्पष्टीकरण होता है, उसे आगम कहते हैं, और जिसमें शुद्ध आत्मा की कथनी मुख्य होती है, आत्माश्रित कथन होता है, उसे अध्यात्म कहा जाता है।

देखो, यह भगवान से साक्षात्कार करने की विधि! शुद्धनयरूपी निर्मलपर्याय द्वारा आत्मा अपने पूर्णानन्दस्वभावी भगवान का

साक्षात्कार करता है, अर्थात् उसमें एकाग्र होता है। राग से भगवान का साक्षात्कार नहीं होता, परन्तु निर्मलपर्याय से भगवान की भेंट होती है, अनुभव होता है। ऐसी अनुभूति को शुद्धपरिणमन कहते हैं। अन्तर्मुख अवस्था कहो, उपशमादि तीन भाव कहो, मोक्षमार्ग कहो, अतीन्द्रिय आनन्द कहो, परमात्मा का साक्षात्कार कहो – इस प्रकार तत्त्वज्ञानी उसे अनेक नामों से पहचानते हैं।

– क्षायिकभाव, सम्पूर्ण निर्मल है, वहाँ कर्म का सर्वथा अभाव है।

– निर्मलता के साथ किञ्चित् मलिनता अथवा आवरण होता है, वह क्षयोपशमभाव है।

– नितरे हुए पानी की तरह मैल नीचे बैठ जाता है – ऐसा निर्मलभाव, उपशमभाव है।

– कर्म के उदय के साथ सम्बन्ध रखनेवाला, उदयभाव है।

– कर्म के उदय-उपशम-क्षय या क्षयोपशम के साथ जिसे सम्बन्ध नहीं हैं, उदयादि चारों अवस्थाओं के समय भी जो एकरूप वर्तता है – ऐसा कर्म से निरपेक्ष सहज स्वभाविकभाव, वह पारिणामिकभाव है।

अनादि-अनन्त एकरूप त्रिकाल परमस्वभाव, वह ध्रुव द्रव्यरूप है और मोक्षमार्ग उस परमात्मभाव के आश्रय से प्रगट हुई पर्यायरूप है, वह त्रिकालरूप नहीं। एक त्रिकालभाव और एक पर्यायभाव – ऐसे द्रव्य-पर्यायरूप दोनों स्वभाव, वस्तु में एक साथ हैं; वस्तु कभी पर्यायरहित नहीं होती; प्रत्येक समय नयी-नयी पर्यायरूप परिणमा करती है। वह पर्याय यदि अन्तर्मुख स्वभाव

में ढली हुई होवे तो मोक्ष का कारण है और बहिर्मुख परभाव में ढली हुई हो तो बन्ध का कारण है। इस बन्ध-मोक्ष की क्रीड़ा तेरी पर्याय में ही समाहित होती है; दूसरा कोई तेरे बन्ध-मोक्ष का कारण नहीं है। अपने परमस्वभाव में एकाग्र होकर आनन्द का अनुभव करनेवाली ध्रुव में ढली हुई, ध्रुव में मिली हुई दशा, वह मोक्षमार्ग है, वह धर्म है। ध्रुवसामान्य को ध्येय में लेकर जो दशा प्रगट हुई है, वह नयी है; ध्रुव नया नहीं प्रगट हुआ है परन्तु निर्मल अवस्था नयी प्रगट हुई है और उस समय मिथ्यात्व आदि पुरानी अवस्था का नाश हुआ है। नाश होना और उत्पन्न होना, यह पर्याय-आश्रित है; टिकना, वह द्रव्याश्रित है; वस्तु द्रव्य-पर्यायस्वरूप है।

देखो, द्रव्य और पर्याय का ऐसा अलौकिक सत्यस्वरूप, सर्वज्ञ भगवान ने साक्षात् देखकर उपदेश किया है। यह तो केवलज्ञान के घर की और आत्मा के स्वभाव की गम्भीर बातें हैं, जिन्हें समझने से आत्मा निहाल हो जाता है और इसके फल में केवलज्ञान प्राप्त करे — ऐसी यह बात है।

(श्रोता : अहो ! हमें महाभाग्य से यह बात सुनने को मिली। पञ्चम काल में अमृत वर्षा कर, आपने हमें निहाल किया; विदेहक्षेत्र की वाणी आपने हमें प्रदान की.... ।)

देखो, यह तो वीतराग का मार्ग है। समवसरण के मध्य में सीमन्धरभगवान ऐसा उपदेश दे रहे हैं। आत्मा के उपयोग का अन्तर्मुख व्यापार, अर्थात् अन्तर्मुखपरिणति, वह शुद्धभावरूप धर्म है और जो राग-द्वेषरूप बहिर-व्यापार, वह अशुद्धभाव है, अधर्म है। ध्रुवस्वभाव में अन्तर्मुखपरिणाम की एकाग्रता को शुद्धोपयोग कहो, आत्मधर्म कहो, वीतरागभाव कहो, या सच्ची सामायिक

कहो, वही निश्चयमोक्षमार्ग है, वही केवलीभगवान की परमार्थ स्तुति है; धर्म के जितने नाम हैं, वे सब इस एक पर्याय को लागू पड़ते हैं।

अज्ञान से आत्मा की दशा, परसन्मुख और पुण्य-पाप के सन्मुख ढलती थी, वह गुलाँट खाकर अब स्व आत्मा के सन्मुख ढलती है कि अरे! यह पुण्य-पाप के परभाव मैं नहीं हूँ, मेरा चैतन्य इनसे भिन्न है; मैं आनन्दमय शाश्वत् चैतन्यवस्तु हूँ। पहले गुरुगम से जैसा है, वैसा वस्तुस्वरूप लक्ष्य में लिया है, तत्पश्चात् प्रयोग करके उपयोग को अन्तर में जोड़ता है, और साक्षात् अनुभव करता है – यह मोक्ष को साधने का मार्ग है।

तू ध्रुवस्वभाव का लक्ष्य कर – ऐसा कहने से, पहले कहीं पर में लक्ष्य था, वह लक्ष्य बदलकर स्व में लक्ष्य किया और लक्ष्य करनेवाला ध्रुवरूप से टिका रहा; इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों आ गये। इसके बिना 'तू ध्रुव का लक्ष्य कर' ऐसा उपदेश नहीं हो सकता। अशुद्धपरिणाम गये, और शुद्धपरिणाम हुए – वे कहाँ से हुए? जो अशुद्धपरिणाम गये, उनमें से तो शुद्धपरिणाम नहीं आते; वस्तु स्वयं द्रव्यरूप से ध्रुव टिककर दूसरे समय में शुद्धपरिणामरूप से परिणमित हुई है। उस परिणामरूप, ध्रुव स्वयं नहीं हुआ, पूर्व की पर्याय उसरूप नहीं हुई, पर में से वह नहीं आया, परन्तु वस्तु स्वयं उस समय के अपने पर्यायधर्म से वैसे भावरूप परिणमित हुई है। (जिस भाव में प्रणमे दरव, उस काल तन्मय वह कहा – अर्थात्, पर्यायदृष्टि से उस-उस काल के परिणाम के साथ वस्तु तन्मय है, तद्रूप है; पृथक् नहीं है।) इस प्रकार अपने शुद्धपरिणाम, स्वयं से ही होते हैं – ऐसी वस्तुस्थिति

को पहचाने बिना बाहर से धर्म मानकर, अनन्त काल भ्रम में व्यतीत किया है। स्वसन्मुख होने के बदले, धर्म के नाम से बाहर में व्यर्थ झपट्टे मारता है।

बापू! तेरे सत्यस्वरूप के ज्ञान बिना तू तेरे उपयोग को किसमें जोड़ेगा और किससे हटायेगा? तुझमें ऐसा कौन-सा स्वभाव है कि जिसमें तेरा उपयोग स्थिर रह सके और जिसमें उपयोग को स्थिर करने से शान्ति और आनन्द का अनुभव हो? वह वस्तु यहाँ तुझे बतलाते हैं। तेरी इस वस्तु को तू पहचान.... तो भवभ्रमण से तेरा छुटकारा होगा। परलक्ष्य से हुई अशुद्धदशा का, अपने शुद्ध चिदानन्दस्वभाव के लक्ष्य से नाश होता है और शुद्धता प्रगट होती है। यही भव के अभाव का और मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

स्वभावसन्मुख परिणमन, मोक्षमार्ग है; निज परमात्म वस्तु के आश्रय से मोक्षमार्ग है; पर के लक्ष्य से मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, तीनों स्वाश्रित शुद्धपरिणाम हैं, उनमें पर का या राग का अवलम्बन किञ्चित् नहीं है। ये तीनों भाव, शुद्धात्मा के सन्मुख हैं और पर से विमुख हैं। इस प्रकार मोक्षमार्ग अत्यन्त निरपेक्ष है, परम उदासीन है। जितने परसन्मुख पराश्रित रागादि व्यवहारभाव हैं, वे कोई भी मोक्षमार्ग नहीं हैं। स्वाभिमुख स्वाश्रित परिणाम में व्यवहार के राग की उत्पत्ति नहीं होती है; इसलिए वे रागादिभाव, मोक्षमार्ग नहीं हैं; जो स्वाश्रित निर्मलभाव है, वही मोक्षमार्ग है। यह मोक्षमार्ग पर्याय, अन्तर के कारणपरमात्मा में एकाग्र होकर परिणमित हुई है, इस कारण द्रव्य-पर्याय के अभेद की अपेक्षा से नियमसार में कारणपरमात्मा को ही मोक्ष का कारण कहा है और द्रव्य-पर्याय का भेद डालना, वह सब व्यवहार है।

यहाँ पर्याय अपेक्षा से मोक्ष का कारण बतलाना है; इसलिए उपशमादि भावों को मोक्ष का कारण कहा है। यह उपशमादि भाव ही निज परमात्मद्रव्य के सन्मुख होकर परिणमित हुए हैं।

इस प्रकार पाँच भावों में से मोक्ष के कारण कौन हैं ? – यह बतलाया और उनके दूसरे अनेक नामों से भी उनकी पहचान करायी है।

अब, यह मोक्षमार्गरूप शुद्धपर्याय है, वह शुद्धात्मद्रव्य से एकान्ततः अभिन्न नहीं है, 'कथञ्चित् भिन्न भी है' – यह बात समझायेंगे।

शुद्धात्मस्वभाव के सन्मुख होने पर जो मोक्षमार्गरूप पर्याय प्रगट हुई है, वह पर्याय कैसी है ? यह कहते हैं – **वह पर्याय, शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षण शुद्धात्मद्रव्य से 'कथञ्चित् भिन्न' है। किसलिए ? भावनारूप होने से। शुद्धपारिणामिकभाव तो भावनारूप नहीं है।**

यदि वह पर्याय, शुद्ध पारिणामिकभाव से सर्वथा अभिन्न होवे तो मोक्ष का प्रसङ्ग बनने पर, जैसे इस भावनारूप मोक्ष कारणभूत पर्याय का विनाश होता है; उसी प्रकार शुद्ध - पारिणामिकभाव भी विनाश को प्राप्त होगा, परन्तु ऐसा तो होता नहीं है क्योंकि शुद्धपारिणामिकभाव तो अविनाशी है; इसलिए द्रव्य और पर्याय को कथञ्चित् भिन्नता जानना चाहिए।

शास्त्रकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि परम साम्यभावरूप शुद्धोपयोग नामक वीतरागचारित्र को मैं अङ्गीकार करता हूँ; बीच में शुभभावरूप कषाय कण आता है, वह बन्ध का

कारण है; इसलिए उसे मैं अङ्गीकार नहीं करता। शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग, राग से अत्यन्त भिन्न है। अब यहाँ वह पर्याय, द्रव्य के साथ भिन्न है या अभिन्न है, यह बतलाना है। वह पर्याय, स्वयं ध्रुवरूप नहीं है, अर्थात् द्रव्य की तरह स्थायी रहनेवाली नहीं है। इस कारण शुद्धात्मद्रव्य से वह कथञ्चित् भिन्न है; सर्वथा भिन्न नहीं है क्योंकि वह अपनी ही पर्याय है। पर्याय, क्षणिक-विनाशी है; इसलिए नित्य शाश्वत् द्रव्य से वह कथञ्चित् भिन्न है। यदि द्रव्य और पर्याय, सर्वथा – एकान्ततः अभिन्न होवे तो पर्याय का नाश होने पर द्रव्य का भी नाश हो जाएगा, वस्तु ही सत् नहीं रहेगी; इसलिए मोक्षमार्ग है, वह पर्यायरूप है – ऐसा सिद्ध करना है और वह पर्याय, मोक्ष का कारण होती है, द्रव्य नहीं – ऐसा बतलाना है। ऐसा होने पर भी ध्येयरूप तो द्रव्य है और उसे ध्याने से पर्याय, शुद्ध हो जाती है, यह बात भी अन्त में बतलायेंगे।

मोक्षमार्ग है, वह पारिणामिकभाव की भावनारूप है और भावना, पर्याय है; द्रव्य तो कहीं भावनारूप नहीं है; इसलिए यह द्रव्य और पर्याय एकान्ततः अभिन्न नहीं हैं, अर्थात् सर्वथा एक नहीं हैं; दोनों के बीच कथञ्चित् भेद है। द्रव्य है, वह पर्याय नहीं; पर्याय है, वह द्रव्य नहीं। 'वस्तु' कहने से उसमें द्रव्य और पर्याय दोनों समाहित हो जाते हैं परन्तु द्रव्य और पर्याय दोनों परस्पर सर्वथा एक नहीं हैं। यदि दोनों सर्वथा एक होवें तो वस्तु में द्रव्य और पर्याय, दो धर्म ही सिद्ध नहीं होते; अथवा पर्याय की तरह द्रव्य भी क्षणिक / नाशवन्त सिद्ध होगा। मोक्षमार्ग भले ही शुद्ध निर्मल वीतरागीभाव है, परन्तु वह पर्यायरूप है; द्रव्यरूप नहीं। यदि मोक्षमार्ग, द्रव्यरूप होवे तो जैसे द्रव्य अनादि-अनन्त है, वैसे

मोक्षमार्ग भी अनादि-अनन्त होना चाहिए, परन्तु मोक्षमार्ग / पर्याय तो नयी प्रगट होती है और मोक्ष होने पर वह पर्याय नष्ट हो जाती है। पर्याय जितना ही द्रव्य होवे तो उस पर्याय का नाश होने पर, द्रव्य का भी नाश हो जाएगा, परन्तु ऐसा नहीं होता है। पर्याय का नाश होने पर भी, द्रव्य ऐसा का ऐसा स्थायी रहता है और दूसरे समय वस्तु में दूसरी पर्याय होती है। यह तो सर्वज्ञदेव के शासन का अलौकिक अनेकान्तमार्ग है।

जिसे मोक्षमार्ग कहा, उसे औपशमिक आदि भाव कहा, जिसे शुद्धोपयोग इत्यादि नाम कहे, वह स्वसन्मुख भावरूप निर्मलपर्याय, त्रिकाली द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न है क्योंकि वह स्वयं भावनारूप है। भावना, अर्थात् मोक्षमार्ग.... यह भावना, विकल्प नहीं, परन्तु रागरहित परिणति है, उस परिणति को यहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार से तेरह नाम से पहचान कराया है।

– पहले उसे श्रुतज्ञान कहा,
– अभेदनय से शुद्धज्ञानपरिणत जीव कहा,
– शुद्धउपादान कहा,
– भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति कहा,
– निज परमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान, अनुचरण कहा,
– औपशमिक आदि तीन भाव कहा,
– शुद्धात्माभिमुख परिणाम कहा,
– शुद्धोपयोग कहा,
– भावना कहा,
– मोक्ष के कारणभूत क्रिया कहेंगे,

– ध्यान कहेंगे,

– निर्विकार स्वसंवेदन कहेंगे,

– एकदेश व्यक्ति / प्रगटता कहेंगे

– इस प्रकार अनेक नामों द्वारा जीव के भाव की पहचान करायी है। अधिक स्पष्टता करने के लिए उस भाव को द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न कहा है। त्रिकालभाव वह द्रव्य; उसकी भावना से प्रगट हुआ निर्मलभाव, वह पर्याय है। पारिणामिक त्रिकालभाव है, उसके साथ औपशमिक आदि क्षणिकभाव एकान्त अभेदरूप नहीं है। यदि एकान्त अभेद हो तो एक का नाश होने पर, दूसरे का भी नाश हो जाएगा, परन्तु ऐसा नहीं होता है; इसलिए उनमें कथञ्चित् भिन्नता जानना चाहिए। भावनारूप जो मोक्षमार्ग पर्याय है, वह मोक्षदशा होने पर विनाश को प्राप्त होती है परन्तु द्रव्यरूप जो परमभाव है, वह ध्रुव रहता है; उसका नाश नहीं होता; वह भावनारूप नहीं है, मोक्षमार्गरूप नहीं है, उत्पाद-व्ययरूप नहीं है, उसे औपशमिक आदिपना लागू नहीं होता; वह एक पारिणामिकभावरूप है।

आत्मा, अरूपी वस्तु है; इसलिए उसके भाव भी अरूपी हैं। अरूपी होने से सूक्ष्म हैं, परन्तु लक्ष्य रखे तो समझ में आ सकता है क्योंकि समझनेवाला स्वयं भी सूक्ष्म-अरूपी है। ध्रुव चैतन्य स्तम्भ – जिसके आस-पास, अर्थात् जिसे अवलम्बन कर पर्याय फिरती है, उस स्वभाव की भावना मोक्षमार्ग है। परमभाव की यह भावना विकल्परूप नहीं, और ध्रुवरूप नहीं, परन्तु शुद्धता की अनुभूतिरूप है, अर्थात् पर्यायरूप है।

मोक्षमार्ग में जो सम्यग्दर्शन है, वह दो नहीं – एक रागवाला

और दूसरा रागरहित – ऐसे दो नहीं हैं परन्तु शुद्ध आत्मा की भावनारूप एक ही सम्यग्दर्शन है और वह रागरहित ही है। इसी प्रकार मोक्षमार्ग में जो सम्यग्ज्ञान है, वह भी दो प्रकार का नहीं है। शुद्धात्मा की भावनारूप एक ही प्रकार का सम्यग्ज्ञान है तथा मोक्षमार्ग का सम्यक्चारित्र भी दो नहीं है; शुद्ध आत्मा की भावनारूप एक ही चारित्र है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग, शुद्ध आत्मा की भावना में ही समाहित होते हैं, उनमें कहीं राग नहीं आता है; राग का एक अंश भी मोक्षमार्ग में नहीं समाता है। राग को मोक्षमार्ग मानने की बात तो कहीं रह गयी, यहाँ तो अन्दर निर्मल द्रव्य-पर्याय के बीच की सूक्ष्म बात है।

मोक्षमार्ग में क्षायिक आदि भावरूप जो निर्मलपर्याय हुई, वह पर्याय, द्रव्य के साथ सर्वथा अभिन्न नहीं है; कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न है। यदि दोनों सर्वथा एक ही होवे तो वस्तु में उन दो धर्मों की सिद्धि ही नहीं होगी और एक पर्याय का नाश होने पर, सम्पूर्ण द्रव्य का ही नाश हो जाएगा। मोक्षरूप पूर्ण दशा होने पर मोक्षमार्गरूप अपूर्ण दशा का तो नाश होता है..... परन्तु क्या आत्मद्रव्य का ही नाश हो जाता है ? नहीं, क्योंकि वह पर्याय, द्रव्य के साथ सर्वथा अभिन्न नहीं है। द्रव्य के साथ सर्वथा अभिन्न होवे तब तो पर्याय का नाश होने पर, द्रव्य भी नष्ट हो जाएगा (परन्तु) ऐसा नहीं होता है; इसलिए द्रव्य-पर्याय को कथञ्चित भिन्नता जानना चाहिए।

अहो, जङ्गल में बसनेवाले सन्तों ने कितना काम किया है! अन्दर में सिद्ध के साथ गोष्ठी की है.... सिद्ध जैसा अनुभव करके, स्वयं सिद्ध के साधर्मी होकर बैठे हैं.... वाह! ऐसे मोक्षमार्ग

को साधनेवाले सन्त तो सिद्ध के मित्र हैं, सिद्ध के साधर्मी हैं.... संसारभावों से दूर-दूर और अन्तर में सिद्ध के साधर्मी होकर, वे मोक्षमार्ग को साध रहे हैं। ऐसे वीतरागी सन्तों की यह वाणी है। **ऐसे सन्त कहीं देखने को मिलें तो उनके चरण की सेवा करें और उनकी वाणी सुनें।**

भाई! यह तो मोक्षमार्ग को साधने की बात है, और मोक्ष को साधनेवाले सन्तों द्वारा कही गयी है। किसके ध्यान से मोक्ष सधता है? और उसके साधनरूप भाव कैसा होता है? ये दोनों बातें समझाते हैं। अन्दर ही अन्दर तुझमें समस्त भावों की यह क्रीड़ा है, शुद्धात्माभिमुख मोक्षमार्गरूप जो पर्याय है, वह पारिणामिकभाव लक्षणरूप द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न है। किसलिए कि वह भावनारूप होने से। भावना, स्वयं द्रव्य नहीं, परन्तु पर्याय है; इस अपेक्षा से उसे द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न कहा है। शुद्धपारिणामिक द्रव्य है, वह भावनारूप नहीं है। भावना, वह शुद्धपर्याय है; वह पर्याय है तो आत्मवस्तु में, कहीं अन्यत्र नहीं है परन्तु द्रव्य की तरह पर्याय में ध्रुवपना नहीं है; इसलिए उसे द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न कहा है — ऐसा जानना।

वस्तु में द्रव्य और पर्याय, इन दोनों को कथञ्चित् भिन्नपना न होवे और सर्वथा दोनों एक ही हों तो पर्याय का नाश होने से द्रव्य का भी नाश हो जाएगा, परन्तु ऐसा नहीं होता है। उत्पाद-व्यय, पर्याय में है; द्रव्य अपेक्षा से देखने पर उत्पाद-व्यय दिखायी नहीं देते हैं, ध्रुवता ही दिखती है। मोक्षमार्ग, पर्याय है। उस पर्याय में ऐसे शुद्धद्रव्य का अभेद अवलम्बन है। उसमें पर का अवलम्बन नहीं है, राग का अवलम्बन नहीं है, गुण-भेद का या पर्याय-भेद का

अवलम्बन नहीं है; पर्याय अन्तर्मुख होकर शुद्धात्मा में अभेद हुई, अर्थात् उसने शुद्ध आत्मा का अवलम्बन लिया – ऐसा कहा जाता है परन्तु 'यह पर्याय और इसके द्वारा मैं शुद्धात्मा का अवलम्बन लूँ' – ऐसे कहीं दो भेद नहीं हैं। दो भेद के लक्ष्य में रुके, तब तक शुद्धात्मा का अवलम्बन नहीं होता है – अनुभव नहीं होता है, अर्थात् पर्याय के भेद के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं होता है। मोक्षमार्ग एकरूप आत्मा के ही आश्रय से होता है। द्रव्य-अपेक्षा से देखने पर परिणमन नहीं है; परिणमन तो पर्याय-अपेक्षा से है। ऐसे द्रव्य -पर्याय, दो में से सच्चा क्या? तो कहते हैं, दोनों सच्चे; आत्मा स्वयं द्रव्य-पर्यायरूप एक वस्तु है।

अहो! भगवान का अनेकान्तमार्ग अलौकिक है – ऐसे स्याद्वाद की सुगन्ध अलग है। मिथ्यादृष्टि को उसका पता नहीं है। जीव के पाँच भाव की ऐसी बात सर्वज्ञ भगवान के अतिरिक्त दूसरे के शासन में नहीं होती है। भगवान के द्वारा कथित मोक्ष का मार्ग, औपशमिक आदि तीन निर्मलभावोंरूप है। वह रागादि औदयिक भावरूप नहीं है तथा त्रिकाल शुद्धपारिणामिकभावरूप भी नहीं है; उस-उस समय की मोक्षमार्ग-पर्याय, क्षायिकादि भावस्वरूप है। पारिणामिक परमभाव त्रिकाल सत्‌रूप है। उस पारिणामिकभाव के कारण क्षायिकभाव सत् है – ऐसा नहीं है। क्षायिक आदि भाव और पारिणामिकभाव, दोनों सत् हैं। उनमें क्षायिक आदि भाव, त्रिकाली पारिणामिकभाव के आश्रय से हैं – ऐसा कहा जाता है परन्तु उनमें कारण-कार्यपना नहीं है क्योंकि परमपारिणामिकभाव में उत्पाद-व्ययरूप या बन्ध-मोक्षरूप क्रिया नहीं होती है – इस अपेक्षा से उसे निष्क्रिय भी कहते हैं।

पारमार्थवचनिका में पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि 'शुद्धात्मद्रव्य अक्रियरूप, वह निश्चय और मोक्षमार्ग साधना, वह व्यवहार – ऐसे निश्चय-व्यवहार का स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानता है।' धर्मी जानता है कि ज्ञानस्वरूप त्रिकाली शुद्धद्रव्य, वह मेरा निश्चय और उसके आश्रय से प्रगट हुई शुद्धपर्याय, वह मेरा व्यवहार है; इसके अतिरिक्त रागादि परभाव तो मुझसे बाह्य हैं। देखो, यहाँ कौन सा व्यवहार लिया ? शुद्धात्मा के आश्रित निर्मलपर्याय द्वारा मोक्षमार्ग को साधना, वह धर्मी का व्यवहार है। अज्ञानी को ऐसा व्यवहार नहीं होता है और ऐसे निश्चय-व्यवहार को वह जानता भी नहीं है।

शुद्धद्रव्य, वह निश्चय और शुद्धपर्याय, वह व्यवहार; इस प्रकार निश्चय-व्यवहार दोनों को एक ही वस्तु के अंग बतलाये हैं। ऐसा जानकर, हे जीव! तेरे स्वद्रव्य के आश्रय से ही तू अपने मोक्षमार्ग को साध! तेरा मोक्षमार्ग साधने में तुझे जगत में किसी की खुशामद करनी पड़े – ऐसा नहीं है; तेरे आत्मा के आश्रय से ही तेरा मोक्षमार्ग है। तू अकेला, अकेला तुझमें और तुझमें ही तेरा मोक्षमार्ग साध सकता है। वाह! कैसी स्वतन्त्र वस्तुस्थिति है! अपने में अभेद शुद्धद्रव्य, वह निश्चय और मोक्षमार्ग साधनेरूप पर्याय का भेद, वह व्यवहार – इसमें राग और निमित्त तो कहीं रह गये। राग को व्यवहार नहीं कहा, परन्तु अपनी शुद्धपर्याय को ही द्रव्य का व्यवहार कहा है। त्रिकाल द्रव्य एकरूप अक्रिय, वह निश्चय; पर्याय के परिणमनरूप क्रिया, वह व्यवहार – ऐसे निश्चय-व्यवहार को अपने में जानकर, धर्मी मोक्षमार्ग को साधता है।

निश्चयदृष्टि के विषय में पर्याय के भेद नहीं आते हैं। भले ही

निर्मलपर्याय हो, परन्तु वह व्यवहारदृष्टि का विषय है। निर्मलपर्याय होती तो निश्चय के, अर्थात् त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से है परन्तु उसे भेद पाड़कर देखना, वह व्यवहार है। भाई! एकरूप रहनेवाला भी तू और निर्मलभावरूप परिणमित होनेवाला भी तू.... ऐसे द्रव्य –पर्यायरूप तेरे आत्मा की लीला तो देख! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

भाई! तेरे तत्त्व में जो सामर्थ्य भरा है, वह तुझसे जो हो सके, वैसा है, उसकी ही यह बात है। सन्तों ने स्वयं आत्मा में जो किया, वही तुझे बतलाते हैं। अहा! आत्मा के स्वानुभव से मोक्ष को साधने का अवसर तुझे हाथ में आया है; इसलिए हे जीव! तू जाग... जागकर अपने शुद्ध उपादान को सम्हाल और शुद्धद्रव्य के सन्मुख होकर शुद्धपर्याय की अपूर्व धारा उल्लसित कर! **सन्तों के प्रसाद से अब सब अवसर आ चुका है।**

आत्मवस्तु के जो पाँच भाव हैं, उनमें पारिणामिकभाव, परमभाव है, उसका कभी अभाव नहीं होता; पर्याय में जो चार भाव हैं, वे उत्पन्नध्वंसी है; अशुद्धता का नाश होता है और आंशिक शुद्धतारूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है; मोक्षमार्ग का नाश होता है और मोक्षदशा प्रगट होती है परन्तु जो परमभावरूप द्रव्य है, उसका नाश भी नहीं होता और वह प्रगट भी नहीं होता। इस प्रकार पलटती पर्याय और शाश्वत् द्रव्य – ऐसा वस्तुस्वरूप है।

वस्तु में द्रव्य-अपेक्षा से परिणमन नहीं है, पर्याय-अपेक्षा से परिणमन है; इसलिए द्रव्य को अपरिणामी अथवा अक्रिय भी कहते हैं और स्वसन्मुख होकर मोक्षमार्ग साधनेरूप पर्याय, वह क्रिया है – ऐसी वीतरागमार्ग की रीति है। समवसरण में सर्वज्ञदेव

ने द्रव्य-पर्यायरूप ऐसा वस्तुस्वरूप का उपदेश किया है। द्रव्य -पर्याय सर्वथा अभिन्न नहीं; कथञ्चित् भिन्न भी है। यदि कथञ्चित् भिन्न न हो और पर्याय, सर्वथा द्रव्य ही हो तो मोक्ष के समय मोक्षमार्गपर्याय का अभाव होने से द्रव्य का ही अभाव हो जाएगा; आत्मा का ही नाश हो जाएगा। वस्तु में द्रव्य, वह द्रव्यरूप है; पर्याय, वह पर्यायरूप है; इन दोनों की जोड़ीरूप वस्तुस्वरूप है – ऐसी अनेकान्तस्वरूप वस्तु, भगवान ने बतायी है।

वास्तविक आत्मवस्तु क्या है और उसमें द्रव्य व पर्याय किस प्रकार से हैं? – यह समझना चाहिए। मोक्षमार्ग की निर्मलपर्याय, ध्रुव चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से प्रगट होती है परन्तु जो पर्याय प्रगट हुई, वह स्वयं ध्रुव नहीं है। त्रिकाली पारिणामिकस्वभाव में एकाग्र होने पर औपशमिक आदि निर्मल अवस्था हुई, वह उत्पाद -व्ययरूप है; इसलिए ध्रुव से कथञ्चित् भिन्न है; सर्वथा भिन्न नहीं तथा सर्वथा अभिन्न नहीं। यदि सर्वथा भिन्न होवे तो वस्तु, अवस्थारहित हो जाए; इसलिए वस्तु ही न रहे और सर्वथा अभिन्न होवे तो पर्याय का नाश होने से द्रव्य का भी नाश हो जाए; इसलिए वस्तु ही न रहे; अतः 'कथञ्चित् भिन्न है'।

'जाना और होना' वह पर्याय में है; 'टिकना' वह द्रव्य में है – ऐसी वस्तु को शास्त्रभाषा में **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** कहा है। ध्रुवता, अर्थात् टिकना; उत्पाद-व्यय, अर्थात् बदलना...। कायम रहकर, बदले और बदलने पर भी कायम रहे – ऐसा वस्तु का सत्स्वरूप है। द्रव्य, अविनाशी; पर्याय, नाशवान् – दोनों सर्वथा एक नहीं हैं। आत्मा की अपने स्वरूप में श्रद्धा-ज्ञान रमणतारूप जो दशा है, वह मोक्षदशा का कारण अवश्य है परन्तु वह दशा,

स्वयं तो मोक्षदशा होने पर व्यय हो जाएगी, वह कहीं द्रव्य की तरह कायम नहीं रहेगी। त्रिकाल परमस्वभावरूप द्रव्य तो अवस्थाओं के समय अनादि-अनन्त धारावाही एकरूप रहनेवाला है। पर्याय अंश, स्वयं द्रव्य नहीं है। पर्याय और द्रव्य, ये दोनों अंश यदि एक ही हो जाएँ तो अंश से पृथक् अंशी न रहने से, अंश के नाश के साथ उसका भी नाश हो जाएगा। इसलिए दोनों अंश, दोनों धर्म कथञ्चित् भिन्न हैं – ऐसी वस्तुस्थिति समझने से अंशबुद्धि मिटकर, आत्मस्वरूप का सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है।

देखो! यह आत्मा के अपने अन्दर के भावों की बात है। मोक्षमार्ग की पर्याय कैसे प्रगट हो और उसका 'भाव' कौन सा है? वह पहचानना चाहिए। परचीज तो आत्मा से सर्वथा भिन्न है। शरीर, आत्मा से सर्वथा भिन्न, कर्म आत्मा से सर्वथा भिन्न; अब अपने द्रव्य अंश और पर्याय अंश के बीच भिन्नता किस प्रकार है? – यह उसकी बात चलती है। अभी तो जिसे पर से भिन्नता की बात भी नहीं जमती, उसे अन्तर की यह सूक्ष्म बात कैसे समझ में आयेगी?

भाई! तेरी प्रवर्तमानदशा में तुझे कुछ नया करना है न! तो नया होवे वह क्या और वह कैसे होगा? – इसे लक्ष्य में ले। प्रथम तो जो नया होता है, वह द्रव्य नहीं होता, परन्तु पर्याय होती है। पर्याय क्षणिक है; इसलिए वर्तमान पर्याय बदलकर, दूसरी नयी होती है। अब, उस नयी पर्याय में सुख, शान्ति और आनन्द कब होता है? जिसमें सुख, शान्ति और आनन्द भरा है – ऐसे शाश्वत् स्वभाव के सन्मुख देखने से पर्याय में वह सुख प्रगट होता है। इस स्वभावसन्मुख होने को मोक्ष की क्रिया कहते हैं। त्रिकाल स्वभाव

के सन्मुख हुई उस दशा को, धर्मध्यान अथवा निर्विकल्प अनुभव कहते हैं। वह पर्याय और त्रिकालध्रुव – दोनों भाव सर्वथा एक स्थितिरूप नहीं हैं। यदि सर्वथा एक होवें, तब तो पर्याय का अभाव होने पर, द्रव्य भी कायम नहीं रह सकता। जैसे, चौंसठ पहरी चरपराहट के स्वभाव से भरपूर छोटी पीपल को उसकी पच्चीस पहरी अवस्था के साथ सर्वथा एकता नहीं है। यदि सर्वथा एकता हो, तब तो पच्चीस पहरी में से चौंसठ पहरी कभी नहीं हो सकती। पच्चीस पहरीदशा का अभाव होने पर, उस छोटी पीपल का अभाव हो जाएगा, तब चौंसठ पहरीरूप कौन होगा? इसी प्रकार वस्तु की एक पर्याय ही यदि पूरी वस्तु सर्वथा होवे, तब तो पर्याय मिटकर दूसरी पर्याय नहीं हो सकती; उस पर्याय का नाश होने से वस्तु का ही नाश हो जाएगा; इसलिए द्रव्य-पर्याय को परस्पर कथञ्चित् भिन्नपना है – ऐसा जानना।

एक द्रव्यस्वभाव और एक पर्यायस्वभाव – ऐसे दो स्वभावरूप वस्तु का अस्तित्व है। द्रव्यस्वभाव में अतीन्द्रिय आनन्दरस पूर्ण शक्तिरूप है। उसका भान करने से पर्याय में वह आनन्द नया प्रगट होता है, अर्थात् आत्मवस्तु अपने स्वभाव से, वैसे आनन्दरूप परिणमित होती है। इस प्रकार द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु में ही कार्यसिद्धि होती है।

आत्मा में पर्याय है; पर्याय का अस्तित्व ही न माने, उसे तो कुछ कार्य करने का नहीं होता। अज्ञान मिटाकर, ज्ञान करना; सत्यस्वरूप समझना, श्रद्धा करना, अनुभव करना, मोक्षमार्ग साधना; अशुद्धता मिटाकर, शुद्धता करना, ये सब पर्याय में ही होता है। पर्याय के स्वीकार बिना यह कुछ नहीं हो सकता और अकेली

पर्याय के सन्मुख देखा करे, किन्तु द्रव्य के शुद्धस्वभाव को न देखे तो भी उसे अशुद्धता मिटकर, शुद्धता या श्रद्धा-ज्ञान या अनुभव नहीं होता।

पर्याय की शुद्धता को द्रव्य के आश्रय से होती है। द्रव्यस्वभाव में अन्तर्मुख एकाग्र हुए बिना, पर्याय की शुद्धता नहीं होती है। द्रव्य और पर्याय दोनों को माने बिना, वस्तु की शुद्धता नहीं साधी जा सकती है। द्रव्य को न माने तो भी शुद्धता नहीं साधी जा सकती और पर्याय को न माने तो भी शुद्धता नहीं साधी जा सकती। एकान्ततः पर्याय जितनी ही वस्तु मान ले तो दूसरे समय में कार्य का अभाव होने से वस्तु का ही अभाव हो जाएगा, अर्थात् बौद्धमत जैसा सर्वथा क्षणिकवाद हो जाएगा, परन्तु ऐसा तो वस्तुस्वरूप नहीं है; और पर्याय न मानकर वस्तु को एकान्त ध्रुव / कूटस्थ माने तो भी पर्याय के परिवर्तन बिना नया कार्य नहीं हो सकेगा। उसमें अद्वैत वेदान्त जैसा एकान्तवाद हो जाएगा।

सर्वज्ञदेव के अनेकान्तमत में एक ही वस्तु को द्रव्य-पर्यायरूप बतलाया गया है, वही यथार्थ वस्तुस्वरूप है। जो बौद्ध की तरह अकेली अवस्था ही मानता है और ध्रुव नहीं मानता; दूसरे जो वेदान्ती की तरह अकेला ध्रुव नित्य ही मानता है और अनित्य पर्याय को नहीं मानता, उसके मत में वस्तु की सिद्धि ही नहीं हो सकती है।

द्रव्य और पर्याय को कथञ्चित् भिन्न कब कहा? वस्तु में ये दोनों धर्म रहे हुए हैं, तब। यदि ये हों ही नहीं तो 'यह इससे कथञ्चित् भिन्न है' – ऐसा कहना कहाँ रहा?

अहो! जिनेन्द्रदेव आपका मत कोई अलौकिक है!! अतीन्द्रिय

–ज्ञान द्वारा जगत के पदार्थों का सूक्ष्म स्वरूप जानकर, आपने उसका उपदेश किया है। ऐसे वस्तुस्वरूप को जाने बिना, वस्तु की सिद्धि अथवा कार्य की सिद्धि नहीं होती है। ध्रुवता और उत्पत्ति –विनाश, दोनों भाववाली एक वस्तु को माने तो ही यथार्थस्वरूप की सिद्धि होती है और तभी मोक्षमार्ग सधता है; इन दोनों में से एक को भी वस्तु में से निकाल डाले तो वस्तु का सच्चा ज्ञान नहीं होता, अर्थात् अज्ञान रहता है; और अज्ञान के द्वारा तो मोक्षमार्ग कैसे सध सकेगा ? नहीं सध सकता। इसलिए पहले यथार्थ वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिए।

देखो भाई ! आत्मा के हित के लिए यह विशिष्ट प्रयोजनभूत वस्तु कही जा रही है। दूसरा तो बाहर का आये या न आये, परन्तु यह आत्मविद्या तो सीखने योग्य है; यह विद्या सीखने से ही जीव का कल्याण है; शेष सब तो व्यर्थ है।

* द्रव्य–पर्यायस्वरूप आत्मा; द्रव्य शाश्वत् टिकता है, पर्याय पलटती है।

* पर्याय के नाश से ध्रुवद्रव्य का नाश नहीं होता, वह शाश्वत् रहता है।

* ध्रुव के टिकने के साथ पर्याय नहीं टिकती, वह पलट जाती है।

– ऐसी वस्तु है। उसकी मलिनदशा, वह संसार है; उसका अभाव होकर शुद्धदशा होना, वह मोक्ष है। वह कैसे होता है ? ध्रुवस्वभाव पारिणामिकभावरूप शुद्ध ही है, उसके आश्रय से–उसके ध्यान से शुद्धता होती है।

जो ध्यानरूप मोक्षमार्गपर्याय है, वह भावनारूप है। द्रव्य तो परमात्मभावरूप है और पर्याय, उसकी भावनारूप है। परमात्मभावना, वह मोक्षमार्ग है। इस भावना को औपशमिकादि तीन भाव लागू पड़ते हैं और जो परमात्मभाव त्रिकाल है, वह पारिणामिकभाव है। पारिणामिकभाव सदा रहता है परन्तु उसकी भावना सदा नहीं रहती; भावना के फलरूप मोक्षदशा प्रगट हुई, वहाँ भावनारूप दशा नहीं रहती है। यह भावना कहीं विकल्परूप नहीं थी; विकल्प तो उदयभाव में गया और यह भावना तो औपशमिकादि तीन भावरूप है।

मैं कब मुनि होऊँगा! मैं कब केवलज्ञान प्रगट करूँगा! ऐसे सुविकल्प उत्पन्न हों, वह कहीं यहाँ कथित भावना नहीं है परन्तु विकल्परहित निर्मलपरिणति अन्तर में जितनी एकाग्र हुई, उतनी भावना है और वह मोक्ष का कारण है। अहो! मोक्ष के कारणरूप जो भाव हैं, उसका नाम भावना है।

शाश्वत् पारिणामिकभावरूप परमात्मा के सन्मुख एकाग्र परिणति को भावना कहो, शुद्धोपयोग कहो, या मोक्षमार्ग कहो.... परन्तु वह पर्याय है। सम्पूर्ण भगवान आत्मा, उस पर्याय जितना नहीं है। सम्यग्दर्शन, वही आत्मा है; जितना सम्यग्दर्शन है, उतना ही आत्मा है अथवा अनुभूति, वह आत्मा ही है – ऐसा भी अभेदरूप से कहा है परन्तु यहाँ अभी पाँच भावों में ध्रुवरूप भाव और परिणामरूप भाव, इन दोनों का स्वरूप समझाकर, उनमें से मोक्ष का कारण कौन है ? – यह बतलाना है; इसलिए उन दोनों को कथञ्चित् भिन्न कहा है।

भगवान आत्मा का जो ध्रुवभाव है, वह वर्तमान पर्याय जितना

ही नहीं है, वह स्वयं भावनारूप नहीं है; भावनारूप तो पर्याय है। पर्याय, वह ध्रुव नहीं है; ध्रुव, वह पर्याय नहीं है। (जिसे प्रवचनसार में अतद्भाव कहा गया है।) द्रव्यस्वभावरूप ध्रुवतत्त्व, पररूप तो नहीं, रागरूप तो नहीं और एक पर्याय जितना भी नहीं। यद्यपि पर्याय है वस्तु की अपनी, तथापि ध्रुव की दृष्टि में वह पर्याय नहीं दिखती है। प्रमाणरूप वस्तु को देखने से वह द्रव्य-पर्याय दोनों रूप है – ऐसा वस्तुस्वरूप है।

मोक्ष करना है – मोक्ष, अर्थात् क्या? मोक्ष, अर्थात् आत्मा की पूर्ण पवित्रदशा। त्रिकाल द्रव्यस्वभाव तो मुक्तस्वरूप है ही; द्रव्य अपेक्षा से मोक्ष नया नहीं होता, परन्तु द्रव्य का मोक्षस्वरूप -शुद्धस्वरूप समझने से पर्याय में मोक्षदशा नयी प्रगट होती है। वस्तु का त्रिकाली स्वभाव बँधता नहीं, आवृत नहीं होता, अशुद्ध नहीं होता; बन्धन, आवरण, या अशुद्धता तो क्षणिक पर्याय में होते हैं।

अज्ञान से अकेली अशुद्धता को ही देखता था और मैं सम्पूर्ण अशुद्ध हो गया – ऐसे स्वभाव को विपरीत मानकर, अपने को अशुद्ध ही अनुभव करता था परन्तु सच्चा उपदेश लक्ष्य में लेने से सम्यक् विचारधारा जागृत हुई, तब ज्ञान द्वारा समझ में आया कि अहो! मेरा सम्पूर्ण स्वभाव तो शुद्ध है; अशुद्धता तो एक अंश में ही थी, वह कहीं मेरा शाश्वत् स्वरूप नहीं था। ऐसा भान करके शुद्धस्वभाव में सन्मुख होकर परिणमित हुआ, वहाँ पर्याय भी उसके जैसी शुद्ध हुई और अशुद्धता मिटी। द्रव्य तो मुक्त था और उसमें एकता द्वारा पर्याय भी मुक्त हुई, वह जीव अब सदा काल मुक्तरूप ही रहेगा, बन्धन में से मुक्ति होगी, परन्तु मुक्ति होने के

बाद कभी बन्धन नहीं होगा, क्योंकि मुक्ति, जीव का स्वभाव है; बन्धन, जीव का स्वभाव नहीं है।

— ऐसी मोक्षदशा किस कारण से प्रगट होती है ? जीव का कौन-सा भाव मोक्ष का कारण होता है ? — यह उसकी बात है। ध्रुवस्वभाव तो शाश्वत् मोक्षरूप है — पहले से, अर्थात् अनादि से ही वह मुक्त है, उसमें कारण-कार्यपने का व्यवहार नहीं है।

द्रव्य-पर्याय का भेद नहीं करना हो, तब अभेदरूप निर्मल -पर्यायरूप परिणमित आत्मा ही मोक्ष का कारण है — ऐसा कहा जाता है। ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन से मोक्षदशा प्रगट होती है; इसलिए ध्रुवस्वभाव को भी मोक्ष का कारण कहते हैं परन्तु फिर भी ध्रुव स्वयं सर्वथा मोक्षमार्ग की पर्याय जितना नहीं हो गया है। ध्रुवस्वभाव की समझ पर्याय द्वारा हुई, पर्याय ने स्वयं ध्रुव में अन्तर्मुख होकर शुद्धता का अनुभव किया — इतनी पर्याय की सामर्थ्य अवश्य है, परन्तु इससे कहीं वह पर्याय, ध्रुव नहीं हो जाती। पर्याय तो दूसरे समय में चली जाएगी और ध्रुव ऐसा का ऐसा कायम रहेगा। इस प्रकार दोनों प्रकार से आत्मस्वरूप समझे तो भ्रम मिटता है। भ्रम मिटने पर 'भगवान हूँ' — ऐसा भान हुआ और वह जीव, भगवान के मार्ग में आया। स्वयं ही भगवान होने के लिए मोक्षमार्ग में गमनशील हुआ। पहले भी ऐसा ध्रुवस्वभाव तो था ही, परन्तु राग की रुचि की आड़ में वह दिखता नहीं था। अब पर्याय अन्तर्मुख होने पर वह स्वभाव समझ में आया, पर्याय में उसका अनुभव प्रगट हुआ। इस प्रकार पर्याय नयी प्रगट हुई परन्तु ध्रुवस्वभाव कहीं नया नहीं हुआ — वह तो वही है।

जो प्रगट होती है, वह पर्याय; जो कायम है, वह ध्रुव है। जैसे, **सामान्य ज्ञायकस्वभाव त्रिकाल है परन्तु उसके अनुभव के काल में उसका आविर्भाव कहा है।** अज्ञानी को उसका अनुभव नहीं था; इसलिए उसे सामान्य का तिरोभाव कहा है; पर्याय ने जब अन्तर्मुख होकर ज्ञानस्वभाव को अनुभव में लिया, तब प्रगट तो वह पर्याय हुई है परन्तु उस पर्याय में 'सामान्य का आविर्भाव' कहा है। वहाँ सामान्य कहीं नया नहीं हुआ, परन्तु उसका अनुभव नया प्रगट हुआ है। इसी प्रकार ध्रुवस्वभावरूप द्रव्यसामान्य स्वयं कहीं मोक्षमार्गरूप नहीं होता; मोक्षमार्गरूप तो पर्याय होती है। जिस प्रकार सम्पूर्ण स्वर्ण और उसकी कोई एक अँगूठी आदि दशा – ये दोनों सर्वथा एक नहीं है। यदि सर्वथा एक हो तो अँगूठी दशा का नाश होकर कुण्डल हो ही नहीं सकती, परन्तु अँगूठी या कुण्डल, ये दोनों स्वर्ण की पर्याय हैं, और दोनों दशाओं में स्वर्ण तो स्वर्ण ही है; उसी प्रकार संसार, मोक्षमार्ग या मोक्ष – इन सब दशाओं में द्रव्य तो द्रव्य ही है। वह, वह अवस्था सम्पूर्ण द्रव्य नहीं है, वरना तो पर्याय का अभाव होने से द्रव्य का भी अभाव हो जाएगा। द्रव्य शाश्वत् है और पर्याय पलटती है – ऐसा द्रव्य-पर्यायरूप तत्त्व है।

अरे! अपना ऐसा तत्त्व!! वह जब तक स्वयं को लक्ष्य में न आवे, तब तक भ्रम से अन्यत्र सुख मानता है। स्वभाव को भूले हुए जीवों में अनेक प्रकार के भ्रम चलते हैं।

मुक्तिगिरी की यात्रा के लिए (संवत् 2015 में) गये थे, तब एक जगह एक करोड़पति व्यक्ति को ऐसा भ्रम था कि 'शनि' का नग पहनने से उससे लक्ष्मी मिलती है – ऐसा वह मानता था। अत: यदि कहीं वह नग खो जाये तो हाय! हाय!! मानो मैं ही खो

गया! और मेरी लक्ष्मी चली जाएगी – ऐसा दु:खी होता था। अरे! जीव का भ्रम तो देखो! भाई! ऐसा स्थूल भ्रम हो, उसे तो पर से भिन्न आत्मा समझ में कैसे आयेगा? कदाचित् लक्ष्मी का ढेर हो तो उसमें भी कहाँ आत्मा की शान्ति थी और लक्ष्मी चली जाए तो आत्मा कहाँ उसके साथ चला जाता है। व्यर्थ ही भ्रम करके जीव दु:खी होता है। इसी प्रकार किसी को दूसरे भ्रम होते हैं। बाहर के स्थूल भ्रम न हों तो अन्दर ऐसा सूक्ष्म भ्रम होता है कि मैं जो शुभराग करता हूँ, उससे मेरे आत्मा को धर्म का कुछ लाभ होगा.... अथवा उसके कारण मुझे स्वभाव का अनुभव करना सरल पड़ेगा... अरे! ज्ञानस्वभाव और राग, दोनों की जाति ही अत्यन्त पृथक् है; वहाँ राग के द्वारा स्वभाव का अनुभव कैसे होगा?

यहाँ तो कहते हैं कि बापू! पुण्यपरिणाम से आत्मा को धर्म का लाभ होगा – ऐसा भ्रम भी छोड़ दे। पुण्य तो उदयभाव है और धर्म तो औपशमिक आदि भाव हैं। शुद्धभावरूप परिणमित आत्मा, उस पुण्यपरिणाम से भिन्न है। उससे भी सूक्ष्म बात यह है कि अन्दर में शुद्धद्रव्य और शुद्धपर्याय, जो कि तेरा स्वभाव है, उसमें भी कथञ्चित् भेद-अभेदपना किस प्रकार है? उसे पहचान। द्रव्य से पर्याय का कथञ्चित् भिन्नपना है। यदि ऐसा न होवे तो एक के नाश से दूसरे का भी नाश हो जाएगा और वस्तु ही नहीं रहेगी।

यह अनेकान्तस्वरूप वस्तु का रहस्य स्पष्ट होता है। लोगों में 'अनेकान्त-अनेकान्त' तो बहुत कहते हैं परन्तु अनेकान्त वस्तु के गम्भीर रहस्य को नहीं जानते। वस्तुस्वभाव की यह बात सूक्ष्म तो है परन्तु समझ में आने योग्य है। क्यों नहीं समझ में आयेगी? जिसमें केवलज्ञान लेने की सामर्थ्य है, उसे इस भावश्रुत के अनुभव

की बात समझ में क्यों नहीं आयेगी ? आठ-आठ वर्ष के बालक भी ऐसा निजस्वरूप समझ-समझकर उसमें लीन होकर, अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं। जहाँ आत्मा जागृत हुआ और केवलज्ञान लेने को तैयार हुआ, वहाँ आत्मा का स्वरूप सम्पूर्णत: उसे समझ में आता है.... और केवलज्ञान लेता है। इसलिए 'मैं नहीं समझ सकता' – यह बात मन में से निकाल डालना चाहिए। भाई ! तुझे समझ में आये – ऐसा है, बापू !

देख ! तू ज्ञानस्वरूप आत्मा है। घर इत्यादि तो तुझसे भिन्न, शरीर भिन्न, कर्म भिन्न और रागादि परभाव भी तेरे ज्ञानस्वरूप से भिन्न – उसमें क्या नहीं समझ में आये ऐसा है ? अब, ऐसे आत्मा का ज्ञान करने पर अन्दर में जो निर्मलदशा प्रगट हुई, वह पर्याय और द्रव्य, दोनों एकान्त से एक नहीं हैं; उनमें कथञ्चित् भिन्नता भी है – यह बात चलती है। वस्तुरूप से दोनों एक, क्योंकि एक ही वस्तु के दोनों अंश हैं परन्तु उनमें द्रव्य, वह ध्रुव अंश है और पर्याय, वह उत्पाद-व्ययरूप अंश है – इस अपेक्षा से दोनों भिन्न हैं।

जिस प्रकार एक घर में रहनेवाले सब लोग यदि सर्वथा एक हों तो एक के मरने से सब मर जाना चाहिए; इसी प्रकार चैतन्यवस्तु के घर में रहनेवाले द्रव्य और पर्याय दोनों यदि सर्वथा एक हों तो एक पर्याय मरने पर पूरा आत्मा ही मर जाएगा। मर जाना, अर्थात् व्यय होना। पर्याय मरने से द्रव्य मर नहीं जाता; वह तो ध्रुवरूप जीवित रहता है। उत्पाद, वह जन्म; व्यय, वह मरण; ध्रुवतारूप टिकना, वह शाश्वत् जीवन – इस प्रकार द्रव्य और पर्याय को लक्षणभेद से कथञ्चित् भिन्नता है। वैसे तो एक द्रव्य में अनन्त धर्म

हैं, उन सबको भी परस्पर लक्षण भेद है तथा द्रव्य और पर्याय को भी परस्पर लक्षण भेद है। द्रव्य का लक्षण, ध्रौव्यता है; पर्याय का लक्षण, उत्पाद-विनाश है।

वस्तु, द्रव्यरूप से कायम रहकर अवस्था का रूपान्तर करती है। यदि पर्याय में रूपान्तर / परिणमन न होता हो तो दुःखदशा मिटाकर, सुखदशा करना नहीं हो सकेगा। वर्तमान में दुःख है, वह मिटाना चाहता है और सुख नहीं है, उसे प्रगट करना चाहता है, उसमें ही पर्याय के परिवर्तन का स्वीकार आ जाता है। दुःख है, वह बदल ही नहीं सकता – ऐसा माने तो उसके नाश का उपाय किसलिए करेगा ? वस्तु में अनादि से बदलने का स्वभाव है, और टिकने का स्वभाव भी है। पर्याय का बदलना, वह कोई उपाधि नहीं है परन्तु टिकना और बदलना, अर्थात् ध्रुवता और उत्पाद -व्यय – ऐसा वस्तु का स्वभाव ही है। पर्याय का पलटना तो सिद्ध में भी है। प्रत्येक जीव को अनादि काल से प्रति समय, पर्याय तो पलटती ही आती है परन्तु अपने स्वभाव को भूलकर अनादि से अकेले विकार में ही बदलता आता है; इसलिए जीव दुःखी है। अपना ध्रुवस्वभाव शुद्ध है, उसके आश्रय से परिणमे तो अशुद्धता बदलकर शुद्धता होती है। शरीरादि जड़पदार्थ तो आत्मा से पृथक् जड़रूप ही परिणमित हो रहे हैं। उन्हें आत्मा परिवर्तित नहीं करता, वे उनके कारण स्वयं परिवर्तित होते हैं; आत्मा के कारण नहीं।

जड़ के उत्पाद-व्यय-ध्रुव, जड़ में हैं और आत्मा के उत्पाद -व्यय-ध्रुव, आत्मा में हैं। देहरूपी डिब्बी में स्थित, परन्तु देह से भिन्न चैतन्यरत्न कैसा है ? – यह उसकी बात है। जिस समय वह

अपनी पर्याय बदलता है, उसी समय वह ध्रुवरूप से शाश्वत् है। परिवर्तनपना और शाश्वत्पना दोनों एक साथ हैं – ऐसा ही उसका स्वरूप है।

थिरता एक समय में ठाने, उपजे विनशै तब ही।
उलट-पलट ध्रुवसत्ता राखे, या हम सुनी न कबही॥

हे जिनेन्द्र भगवान! एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवता होने की ऐसी सूक्ष्म बात, आपके उपदेश के अतिरिक्त दूसरे में कभी भी हमने नहीं सुनी है। एक समय में सम्पूर्ण विश्व को आपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप देखा है, यह आपकी सर्वज्ञता की निशानी है।

वस्तु को उसके ध्रुवस्वभाव की ओर से देखने पर, वह एकरूप सदृश ऐसी की ऐसी दिखती है और पर्याय की ओर से देखने पर, वह प्रति समय पलटती हुई, विसदृश दिखती है। बदलती अवस्था, ध्यान का विषय नहीं है; ध्यान की नजर ध्रुव पर है। अखण्ड अभेद एकरूप चैतन्यस्वभाव, वह ध्यान का विषय है, उसे पारिणामिकभाव कहा है। पारिणामिकभाव स्वयं उत्पाद-व्यय परिणामरूप नहीं है; इसलिए उसे अपरिणामी कहा है और बन्ध-मोक्ष सम्बन्धी क्रिया, उसे नहीं होती; इसलिए उसे निष्क्रिय भी कहते हैं।

परिणमन और क्रिया तो पर्याय है; ध्रुव चैतन्यस्वभाव जो कि आनन्द की खान है, उसमें उतरने से, अर्थात् उसमें लक्ष्य एकाग्र करने से शान्ति और आनन्द का वेदन होता है, वह अपूर्वदशा है – ऐसी दशा के बिना अनन्त काल व्यतीत हो गया है परन्तु शान्ति प्राप्त नहीं हुई है। जिसे शान्ति चाहिए हो, उसे वस्तुस्वरूप समझकर

ऐसी दशा प्रगट करने से ही छुटकारा है; इसके अतिरिक्त दूसरे किसी उपाय से भवभ्रमण का अन्त नहीं आता है।

अरे! ज्ञानी का हृदय गहरा है। उसके रहस्य बाहर से प्राप्त हो जाएँ – ऐसा नहीं है। उसके लिए अन्तर की अपूर्व पात्रता होती है। अकेले नाम के शब्दों के जाप जपा करे, परन्तु उन शब्दों से और शब्दों के विकल्पों से तो ज्ञानी पृथक् हैं, यह न पहचाने तो उसने ज्ञानी को नहीं पहचाना है और ज्ञानी के द्वारा अनुभव किया आत्मा कैसा है? इसका भी उसे पता नहीं है। ऐसे भान बिना, अनन्त काल व्यतीत हुआ परन्तु धर्म नहीं हुआ। कहाँ से होगा? जिसमें धर्म करना है, उस वस्तु को तो जानता नहीं। अपने स्वरूप की समझ के बिना अन्य सब तो जीव ने बहुत बार किया, परन्तु उसमें क्या हुआ? इस राग-किया से आत्मा पृथक् है – ऐसा भेदज्ञान करना चाहिए, उसके बदले उसी में लाभ मानकर लग रहा है। राग से अलग हटकर, अन्दर ज्ञानस्वभाव में नहीं आया.... ज्ञानचक्षु नहीं खोला.... राग में ही निजघर मानकर अन्धरूप से सो रहा है। ऐसे जीव को ज्ञायकस्वभाव समझाकर, सन्त जगाते हैं कि हे जीव! तू जाग! तेरे ज्ञानचक्षु खोलकर देख.... कि आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, वह रागादि परभावों का कारक या वेदक नहीं और द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु मैं द्रव्य अंश और पर्याय अंश, दोनों सर्वथा समान नहीं हैं; उनमें कथञ्चित् भेद है। एक अंश, त्रिकाल है; एक अंश, क्षणिक है – ऐसा समझकर, क्षणिक पर्यायबुद्धि भी छोड़.... और ध्रुवस्वभाव में अपनी बुद्धि जोड़।

वाह! सन्तों ने कैसा भेदज्ञान कराया है! द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु

की अलौकिक सिद्धि करके मोक्ष का कारण बताया है। रागबुद्धि तो छुड़ायी है ही; पर्यायबुद्धि भी छुड़ायी है। ध्रुवस्वभाव के ध्येय से मोक्षमार्ग प्रगट होता है किन्तु अंशी, एक अंश में पूरा आ नहीं जाता है। यदि एक अंश में ही पूरा अंशी आ जाए तो अंशी के दूसरे अंश सिद्ध ही नहीं होंगे; इसलिए अंशी भी सिद्ध नहीं होगा। अत: वस्तु में कथञ्चित् अंश-अंशी भेद है, उसे जिस प्रकार है; उसी प्रकार जानकर यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

ज्ञानस्वरूप आत्मा में विचारों का परिवर्तन हुआ करता है – क्षण में क्रोध होता है, फिर दूसरे क्षण में शान्तपरिणाम होते हैं; क्षण में राग बढ़ता है, फिर घटता है; क्षण में आसक्तिता मन्द होती है और फिर आसक्तिता दृढ़ हो जाती है – ऐसी अवस्थाएँ बदला करती हैं और उसी समय वस्तु में ध्रुवरूप से टिकनेवाला चिदानन्दस्वभाव भी है, उस चिदानन्दस्वभाव में दृष्टि को स्थिर करने से जो निर्मल दशा होती है, वह मोक्षमार्ग है। ध्रुव स्वभाव त्रिकाल है। उसके सन्मुख उपयोग झुकाकर मोक्ष का पन्थ पकड़ा, वह उपशमादि भावरूप पर्याय है। शरीर अथवा राग के आश्रय से तो मोक्षमार्ग है ही नहीं; एक समय की पर्याय का भेद डालकर लक्ष्य में लेने से भी मोक्षमार्ग नहीं होता है। अन्तर के ध्रुव चिदानन्दस्वभाव को अभेदरूप से ध्यान में लेने पर मोक्षमार्ग होता है। पर्याय, ध्यान करने योग्य अर्थात् ध्येय नहीं है; वह ध्यान करनेवाली है परन्तु उसका ध्येय तो अखण्ड तत्त्व है। वह अखण्ड ध्रुवतत्त्व में एकाग्र होकर उसे ध्याती है। आनन्द का पूर मेरा आत्मा है – ऐसा निर्णय करनेवाली पर्याय स्वयं उस आनन्द में मग्न होती है।

ध्रुवतत्त्व है, वह ध्येयरूप है; ध्यानरूप नहीं। ध्रुव स्वयं कहीं ध्रुव का ध्यान नहीं करता; ध्रुव के ध्यान की क्रिया पर्याय द्वारा होती है। अन्तर्मुख स्वभाव में उपयोग को एकाग्र करके उसका ध्यान करने से जब पूर्णदशा होती है, तब मोक्षमार्गरूप अपूर्णदशा का अभाव होता है परन्तु उसका अभाव होने से द्रव्य का अभाव नहीं होता। द्रव्यरूप से कायम रहकर वस्तु में दूसरे समय दूसरी अवस्था होती है। वस्तु किसी समय अवस्था बिना नहीं हो जाती है। देखो, वस्तु में द्रव्य और पर्याय दोनों जैसे हैं, वैसे सिद्ध किये हैं। अकेला द्रव्य ही वस्तु है और पर्याय कुछ है ही नहीं – ऐसा नहीं है। दोनों होने पर भी पर्याय, ध्येय नहीं है; ध्रुव, ध्येय है, उसमें दृष्टि करने योग्य है। यदि पर्याय को ध्येय बनाने जाएगा तो ध्यान स्थिर नहीं रह सकेगा, तन्मयता नहीं होगी; ध्रुव को ध्येय बनाकर ही तन्मयता और स्थिरता होती है।

शरीरादि संयोग नाशवान, रागादि भाव नाशवान, पर्याय नाशवान; ये कोई ध्यान का अवलम्बन नहीं है। द्रव्यरूप से अखण्ड टिकनेवाला ध्रुव अविनाशी स्वभाव ही धर्मी के ध्यान में अवलम्बन है। भाई! तेरा आत्मा ही ऐसा है, उसे तू ध्येय बना! आत्मा में ज्ञानादि अनन्त स्वभाव ध्रुवरूप (गुणरूप) विद्यमान है, उसे अभेदरूप से ध्याने से वे निर्मलरूप परिणम जाते हैं। इस प्रकार उसमें ध्रुवता और परिणमन दोनों हैं। मेरा ध्रुव आत्मा ही मेरा अवलम्बन है – ऐसा धर्मी जानता है।

आत्मा कैसा है? – यह जाने बिना उसकी श्रद्धा या उसमें एकाग्रता कैसे होगी? अर्थात् धर्म कैसे होगा? द्रव्यरूप से ध्रुव रहनेवाला और पर्यायरूप से पलटनेवाला – ऐसे दोनों भाव होकर

पूरा आत्मा है – ऐसा सिद्ध करते आये हैं। ऐसे वस्तुस्वरूप को जानकर, ध्रुवस्वभाव के सन्मुख ढलने से धर्म होता है।

भाई! तू अनन्त काल से बाहर में ढला है परन्तु तेरे स्वतत्त्व की तरफ नहीं ढला; तेरे स्वरूप की दरकार और सम्हाल तूने नहीं की है। तू स्वयं अपने को भूलकर हैरान हो रहा है। देह की क्रिया को तूने अपनी माना है – देह में अपनापन माना है। अत: जब देह छूटेगी, तब तू क्या करेगा? किसके सन्मुख देखकर तू शान्ति रखेगा? देह से पृथक् तेरा तत्त्व तो तूने लक्ष्य में लिया नहीं। देह कहीं तेरी नहीं है, वह तो चली जाएगी, तेरे रखने से रहेगी नहीं; अभी भी वह तेरे कारण नहीं रही है। अरे! विकार जो कि तेरी अशुद्धपर्याय के कारण तुझमें था, वह भी तेरे स्वरूप की चीज नहीं है। इसलिए स्वसन्मुख होते ही वह टल जाता है। अब जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई, जो मोक्ष का कारण है, वह भी सम्पूर्ण त्रिकाली स्वरूप नहीं है। तेरा सम्पूर्ण स्वरूप सदा पूर्ण स्वभाव से भरपूर है, उसे तू पहचान! रागादि से भिन्न ऐसे निजस्वरूप को देखना, वह ज्ञानचक्षु का कार्य है।

न्याय अर्थात् सच्चा ज्ञान; प्रमाणरूप ज्ञान। वास्तविक 'न्याय' उसे कहते हैं कि जो चैतन्यस्वरूप में ले जाए। जिस प्रकार स्व-परवस्तु का स्वरूप है, उस प्रकार ज्ञान में लेना, वह सच्चा न्याय है। चैतन्यस्वभावरूप वस्तु सत है, उसका ध्यान होता है; सर्वथा असत् का-शून्य का ध्यान नहीं हो सकता है। ध्यान करते हैं – परन्तु किसका? ध्यान में ध्येयरूप कोई सत् होना चाहिए न? तो सत् कैसा है? उसकी पहचान बिना ध्यान धरने जाए, वह तो मात्र कल्पना की तरंग है। जैसे खरगोश के सींग के ध्यान में एकाग्र नहीं

हुआ जा सकता, क्योंकि वह वस्तु ही नहीं है। फिर ध्यान किसका ? वैसे द्रव्य-पर्यायरूप जैसी आत्मवस्तु सत् है, वैसी अपने ज्ञान में आवे तो उसमें उपयोग की एकाग्रतारूप ध्यान होता है। ध्यान का ध्येयरूप आत्मस्वभाव कैसा है और ध्यान पर्याय कैसी है ? वह यहाँ पाँच भावों के कथन द्वारा बतलाया है।

अरे जीव! तू बाह्य में चतुराई करता है, वहाँ मुझे सब आता है, ऐसी होशियारी करता है परन्तु अपनी वस्तु को पहचानने में तू मस्तिष्क ही नहीं चलाता! बाहर में तो कहीं नजर करने का स्थान नहीं है। तेरे चिदानन्दस्वभाव में नजर कर तो वहाँ नजर स्थिर होगी। अन्दर में निजनिधान है, उसमें नजर करने से निहाल हो जाए – ऐसा है परन्तु नजर करना नहीं आता और सीखने की दरकार नहीं करता। नजर, अर्थात् ज्ञानचक्षु, वह पर्याय है; जिस पर नजर करनी है-लक्ष्य करना है, वह चिदानन्द परमस्वभाव स्थिर है; वही नजर को स्थिर होने का स्थान है और वही धर्मी का विश्राम है।

अवस्था में भूल है, परन्तु वह मिटायी जा सकती है। यदि भूल त्रिकाली हो तो वह मिट नहीं सकती और भूल हो ही नहीं तब तो मिटाने की बात ही नहीं है। भूल है, वह क्षणिक है और भूलरहित शुद्धस्वभाव के भान द्वारा वह भूल मिटाकर भगवान हुआ जा सकता है। इस प्रकार सभी पहलू जाननेवाला जीव सच्चे उपाय द्वारा भूल मिटाकर निर्दोषता प्रगट करता ही है।

जीव जब सत्समागम से लक्ष्य में लेकर ध्रुवस्वभाव में नजर करता है, तब निर्मलपर्यायरूप भावश्रुत अर्थात् ज्ञानचक्षु प्रगट होती है। आत्मा स्वयं ज्ञानरूप होकर अपना साक्षात्कार / अनुभव करता

है। आत्मवस्तु का ऐसा परिणमन मोक्षमार्ग है, वह औपशमिकभाव है, वह परमतत्त्व की भावना है। ज्ञानी की पाठशाला में आकर ऐसे वस्तुस्वरूप का व्यायाम, अर्थात् बारम्बार अन्तर के अभ्यास द्वारा स्वानुभव का प्रयोग कर! वह मोक्ष के लिए सच्ची कसरत है। अन्तर में ऐसी कसरत द्वारा ज्ञान की पुष्टि होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए अन्तर में बारम्बार इसका प्रयत्न करने योग्य है।

कोई भी जिज्ञासु ऐसा कहे कि 'सुखी होने के लिए मुझे मेरी भूल मिटाना है' – तो इसमें क्या आया? वह देखो :–

* प्रथम तो, आत्मा है;

* उसकी अवस्था में भूल है;

* उस भूल के कारण दुःख है, दूसरे के कारण नहीं;

* भूल स्वयं ने की है परन्तु वह क्षणिक है, इसलिए मिटायी जा सकती है;

* वह भूल, स्व को भूलकर परलक्ष्य से हुई है, इसलिए आत्मा के अतिरिक्त परवस्तु भी है;

* परलक्ष्य छोड़कर आत्मा जब अपने स्वरूप को पहचानता है – स्वसन्मुख लक्ष्य करता है, तब भूल मिटकर आत्मधर्म प्रगट होता है और तब उसमें अपूर्व आनन्द और अपूर्व शान्ति आती है; और

* अपने स्वभाव में पूर्ण एकाग्र होने पर पूर्णानन्दसहित पूर्ण शुद्धदशा प्रगट होती है। वह शुद्धदशा प्रगट होने पर पूर्व की अशुद्धदशा का व्यय होता है और द्रव्यरूप से आत्मा ध्रुव कायम रहता है; इसलिए ध्रुवत्व और पर्याय को सर्वथा एकपना नहीं है,

उनमें कथञ्चित् भिन्नपना है – ऐसा जानकर, भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद आत्मस्वभाव को ध्येय बनाना धर्म है।

देखो, यह धर्मकथा! आत्मा को धर्म कैसे हो? – उसकी यह सच्ची कथा है। जो इससे विरुद्ध कहे – राग से धर्म होना कहे, आत्मा, पर का काम करता है – ऐसा कहे तो वह धर्मकथा नहीं है; वह तो वस्तु के धर्म से विपरीत ऐसी विकथा है। आत्मा के कारण पर का काम नहीं होता और राग से धर्म नहीं होता; अपनी विकारी या अविकारी दशा को आत्मा स्वयं करता है; अवस्था परिणमित होती है और द्रव्य ध्रुव रहता है। जैसे समुद्र कायम टिककर पानी में तरंग बदलती रहती है; उसी प्रकार चैतन्य समुद्र द्रव्यरूप से कायम टिककर, पर्यायरूप तरंगें बदला करता है। मलिन तथा निर्मल दोनों पर्यायों को तरंग कहते हैं। जब उस शुद्धस्वभाव की भावनारूप परिणमित हो, तब मोक्षमार्ग प्रगट होता है। भगवान के द्वारा कथित ऐसे मार्ग का श्रवण, वह धर्मकथा का श्रवण है।

यहाँ कहते हैं कि जो मोक्षमार्गरूप पर्याय है, वह भावनारूप है; वह पर्याय, शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षण शुद्धात्मद्रव्य से कथञ्चित् भिन्न है, सर्वथा भिन्न नहीं कहा परन्तु कथञ्चित् भिन्न कहा है, क्योंकि उस पर्यायरूप आत्मा का परिणमन है परन्तु वह भावनारूप होने से, अर्थात् पर्यायरूप होने से पर्यायार्थिकनय का विषय है, द्रव्यार्थिकनय का विषय नहीं है। इस अपेक्षा से शुद्धात्मद्रव्य से उस परिणाम को कथञ्चित् भिन्न कहा है।

द्रव्य और पर्याय को एक-दूसरे के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं – ऐसा नहीं है; द्रव्य और पर्याय को एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध

है परन्तु पर्याय जितना ही द्रव्य नहीं है। यदि पर्याय जितना ही द्रव्य होवे तो पर्याय का नाश होने से द्रव्य का भी नाश हो जाएगा।

वस्तु, द्रव्य-पर्याय दोनोंरूप है, इसमें ध्रुवद्रव्य, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है, और पर्याय, वह पर्यायार्थिकनय का विषय है। वस्तु, द्रव्य-पर्यायस्वरूप है, उसके स्वीकार बिना सच्चा तत्त्वनिर्णय या सम्यग्दर्शन नहीं होता।

ध्रुव के बिना अकेले उत्पाद-व्यय नहीं हो सकते और उत्पाद -व्यय के बिना अकेला ध्रुव, कार्य नहीं कर सकता। यदि अवस्था को न मानो तो अज्ञान मिटाने का, सत्य समझने का या मोक्ष का साधन करने का नहीं रहता। इसी प्रकार नित्यता न माने तो भी सत्य समझना, अज्ञान मिटाना या मोक्ष का साधन करना नहीं रहता। मोक्ष का साधन करके उसके फल को भोगेगा कौन? साधन करनेवाला जीव स्वयं यदि उसके फल को भोगने को कायम न रहता हो और नष्ट हो जाता हो, तो उसका साधन तो व्यर्थ गया! साधन का फल तो वह भोग नहीं सका! ऐसा वह साधन कौन करेगा? अपना ही अभाव कौन चाहेगा? इसलिए नित्य -अनित्यरूप (द्रव्य-पर्यायरूप) आत्मवस्तु है – ऐसे आत्मा को पहचाने तो सच्चा निर्णय कहलाता है। उसे मोक्षसाधन और मोक्षफल – यह सब यथार्थ होता है।

आत्मा ऐसा सूक्ष्म 'गहरा' है कि बाहर की स्थूलता द्वारा वह पकड़ में नहीं आता। ज्ञानी के अन्तर का घर गहरा है, उसमें शुभविकल्प द्वारा प्रवेश नहीं होता। अन्तर्मुख शुद्धोपयोग द्वारा अनुभव में आवे – ऐसा उसका गहरा स्वरूप है। जिसे ध्यान करना है, उसे अपना ऐसा स्वरूप भलीभाँति समझकर उसका ध्यान करना

है। आत्मा अन्तर में गहरा है, वह राग के विकल्पों में आवे – ऐसा नहीं है।

इस प्रकार आत्मा के पाँच भाव सम्बन्धी और उसमें द्रव्य –पर्याय सम्बन्धी बहुत विवेचन हुआ, अब उसका निष्कर्ष, अर्थात् सार निकालते हैं। उसमें कौन–सा भाव मोक्ष का कारण निश्चित हुआ ? – यह बतलाते हैं।

शुद्ध पारिणामिकभाव की भावनारूप जो औपशमिक आदि तीन भाव हैं, वे समस्त रागादिरहित शुद्धउपादानकारणरूप होने से मोक्ष का कारण है – ऐसा सिद्ध हुआ।

देखो, यह मोक्ष का कारण बतलाते हैं। मोक्ष के कारणरूप आत्मा के भाव को इस गाथा में अनेक प्रकार से बतलाया है।

* अकारक–अवेदक – ऐसा जो ज्ञानमात्र भाव, वह मोक्ष का कारण;

* अभेद से 'शुद्धज्ञान परिणत जीव' उसमें मोक्षमार्ग आ गया;

* शुद्ध उपादानरूप से कर्म का अकर्ता – ऐसा भाव, वह मोक्षमार्ग;

* सर्वविशुद्ध पारिणामिक परमभाव का ग्रहण, वह मोक्षमार्ग;

* तात्पर्यवर्ती का लक्षण शुद्धात्म अनुभूति – यह अनुभूति, वह मोक्षमार्ग;

* औपशमिक–क्षायोपशमिक–क्षायिक ये तीनों भाव मोक्ष का कारण;

* भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति अर्थात् सम्यक्त्वादि की प्राप्ति, वह मोक्षमार्ग;

* निज परमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुच्चरणरूप पर्याय, वह मोक्षमार्ग;

* शुद्धात्माभिमुख परिणाम, वह मोक्ष का मार्ग;

* शुद्धोपयोग, वह मोक्ष का मार्ग;

* शुद्ध पारिणामिकभाव की भावना, वह मोक्षमार्ग;

* समस्त रागादिरहित शुद्ध उपादानकारणभूत औपशमिक आदि भाव, वह मोक्षमार्ग;

* शुद्धभावनापरिणतिरूप क्रिया, वह मोक्ष का कारण;

* शुद्ध पारिणामिकभाव का ध्यान, वह मोक्षमार्ग;

* निर्विकार स्व-संवेदन लक्षण क्षायोपशमिकज्ञान, वह मोक्षमार्ग;

* एकदेश व्यक्तिरूप, अर्थात् आँशिक शुद्धिरूप मोक्षमार्ग;

* 'निज परमात्मद्रव्य ही मैं हूँ' – ऐसी भावना, वह मोक्षमार्ग है।

– मोक्षमार्ग की इतनी व्याख्याएँ तो एक ही अर्थात् इस 320 वीं गाथा की टीका में आयी है। इसके अतिरिक्त मोक्षमार्ग के दूसरे कितने ही नाम पूर्व में कहे जा चुके हैं।

हजारों, लाखों या चाहे जितने नाम कहो; उन सबका वाच्य जीव के भाव में समाहित हो जाता है। जीव के 'शुद्धभाव' में कोई भाषा नहीं है, भावनारूप अर्थात् आत्मा के स्वभाव की सन्मुखतारूप भावश्रुतज्ञान है, वह भावश्रुतपर्याय अन्तर्मुख होने पर उसमें वस्तु यथार्थ शुद्धभावरूप परिणम जाती है। उसमें अपूर्व आनन्द और अपूर्व शान्ति है। उसमें अनन्त भाव समाहित होते हैं। 'ज्ञानमात्र

भाव हूँ, अनन्त शक्तियाँ निर्मलरूप से उल्लसित होती है।' इसमें उनका अलौकिक वर्णन किया है।

जैसे, शुद्धपर्यायरूप मोक्षमार्ग को अनेक नामों से पहचान करायी है, वैसे ही शुद्धद्रव्य की भी अनेक विशेषणों से पहचान करायी है। जैसे कि –

* एक ज्ञायकभाव;
* सर्वविशुद्ध पारिणामिक परमभाव;
* शुद्ध उपादानभूत (त्रिकाली);
* शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय;
* बन्ध-मोक्ष के परिणाम से शून्य;
* शुद्ध जीवत्वशक्तिलक्षण पारिणामिकपना;
* त्रिकाल निरावरण;
* सहज शुद्ध पारिणामिकभाव;
* निज परमात्मद्रव्य;
* शुद्धात्मद्रव्य;
* शक्तिरूप मोक्ष;
* निष्क्रियभाव;
* ध्येयरूप;
* सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय;
* उत्पाद-व्ययरहित ध्रुवभाव

– इत्यादि अनेक नामों द्वारा शुद्ध आत्मद्रव्य पहचाना जाता है। नाम तो कुछ भी दो परन्तु अन्दर अपने भावश्रुतज्ञान द्वारा आत्मा

अनुभव में आता है। भावश्रुत कहो या भावना कहो, वह राग का अवलम्बन करनेवाले नहीं हैं, अपितु शुद्धपारिणामिक स्वभाव को अवलम्बन करनेवाले हैं और वही मोक्ष का कारण है।

भाई! तूने कभी तेरे सत्यस्वरूप का विचार भी नहीं किया है, कि अरे! मैं कौन हूँ? मुझमें क्या हो रहा है? मेरी दशा में दुःख और अशान्ति क्यों है? वह मिटकर शान्ति प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए? मुझमें ऐसा कौन-सा वस्तुस्वरूप है कि जिसके सन्मुख देखने से दुःख मिटे और सुख प्रगटे? दुःख में से तो कहीं सुख नहीं आता; तो दुःखरहित ऐसा कौन-सा तत्त्व है कि जिसमें से मुझे सुख मिले? इस प्रकार स्वतत्त्व का सच्चा विचार, अर्थात् स्वसन्मुख विचार करे तो सम्यग्ज्ञान होता है। अरे! ऐसे उपाय से मेंढ़क जैसे आत्मा भी, आत्मज्ञान प्राप्त करके मोक्षमार्ग में चढ़ गये और इस उपाय के बिना मन्दकषायपूर्वक बाहर में हजारों रानियाँ और राजपाट छोड़कर द्रव्यलिंगी साधु होने पर भी आत्मज्ञान नहीं प्राप्त किया। जगत् में भले ही वह महात्मा के रूप में पूजा जाता हो परन्तु अन्दर स्वयं महान आत्मा, राग-द्वेषरहित आनन्दकन्द है, उसके भान बिना उसके भवभ्रमण का अन्त नहीं आता।

वीतरागदेव द्वारा कथित वास्तविक पदार्थ की व्यवस्था अनुसार आत्मा का कायमी स्वभाव क्या है और पलटता भाव क्या है – इसे जाने बिना जीव की अवस्था में सम्यक्त्व आदि का परिणमन नहीं होता, अर्थात् धर्म नहीं होता है।

अभी तो मैं राग से और शरीर से पृथक् हूँ – इतना जानने में भी जिसे कठिनाई लगती है, उसे अन्दर का त्रिकाली तत्त्व, जो कि निर्मलपर्याय से भी कथञ्चित् भिन्न है, उसका स्वरूप कहाँ से

लक्ष्य में आयेगा ? चैतन्यमूर्ति आत्मा को जड़ देहादि के साथ तो कभी एकता हुई नहीं; देह में अनन्त रजकण हैं और उनमें से प्रत्येक रजकण द्रव्यरूप से ध्रुव रहकर अपनी पर्यायरूप से स्वयं पलटता है; आत्मा उसका कर्ता नहीं है। देह से भिन्न भगवान आत्मा भी अनन्त गुण का पिण्ड सत् वस्तु है; वह द्रव्यरूप से ध्रुव रहकर प्रतिक्षण अपनी पर्यायरूप स्वयं पलटा करता है। उसका कारण कोई दूसरा नहीं है। रागपरिणाम हो या वीतरागपरिणाम हो, वह परिणाम अपनी पर्याय से ही है; उसका कारण दूसरा कोई नहीं है। सत्द्रव्य और सत्पर्याय दोनों होकर पूरी सत्वस्तु है – ऐसी सत्वस्तु का विचार करके उसका सत्य ज्ञान करना चाहिए।

अन्तर में अपने ऐसे सत् को समझे तो जीव निडर हो जाए, उसे मरण की शंका नहीं रहे। अरे... ! मरे कौन ? मैं तो त्रिकाल आनन्दकन्द हूँ; द्रव्यदृष्टि में मुझे जन्म-मरण है ही नहीं। देहादि संयोग तो अध्रुव ही है, उनके नाश से कहीं मेरा नाश नहीं होता है, वे तो पहले से ही मुझसे भिन्न हैं, मुझरूप कभी हुए ही नहीं। 'मैं तो अखण्ड परमात्मतत्त्व हूँ' – ऐसी भावनारूप जो औपशमिक आदि भाव, वे मोक्ष का कारण हैं। मोक्ष कहो, या अमर पद कहो – वह ऐसे भाव द्वारा प्राप्त होता है।

वे भाव कैसे हैं ? समस्त रागादि से रहित हैं और शुद्ध उपादान -कारणरूप हैं, इसलिए वे मोक्ष के कारण हैं। वे समस्त रागरहित होने से उन्हें मोक्ष का कारण कहा है, अर्थात् राग का कोई अंश मोक्ष का कारण नहीं है।

प्रश्न – साधक को उपशमादिभाव के समय राग तो होता है, फिर भी उसे 'समस्त रागादिरहित' कैसे कहा है ?

उत्तर – जो उपशमादि निर्मलभाव हैं, वे तो रागरहित ही हैं, उस काल में साधक की भूमिका में राग भले हो परन्तु वह तो उदयभावरूप है, वह कहीं उपशमादिभावरूप नहीं हैं, अर्थात् उपशमादि निर्मलभावों में तो जरा भी राग है ही नहीं, इसलिए वे भाव समस्त रागादिरहित ही है। आंशिक शुद्धता और आंशिक राग – दोनों एक साथ वर्तते होने पर भी, दोनों का स्वरूप ही भिन्न है – ऐसा पहचाने तो भेदज्ञान होता है। जो कोई राग-अंश है, वह तो बन्ध का ही कारण है; वह मोक्ष का कारण जरा भी नहीं है और मोक्ष का कारण उपशमादि निर्मलभाव हैं, वे तो रागरहित ही हैं। जो शुभराग है, वह कहीं मोक्षकारणरूप 'भावना' नहीं है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होने से जो निर्विकल्पदशा प्रगट हुई, वह मोक्षकारणरूप 'भावना' है, उसमें राग नहीं है।

यह भावना किसे भाती है? अपने शुद्ध आत्मा को भाती है। शुद्धद्रव्य त्रिकालभावरूप है और उसके सन्मुख हुई परिणति, वह भावना है – ये दोनों शुद्ध हैं। राग, ध्रुवस्वभाव में तो है ही नहीं; उस तरफ झुकी हुई पर्याय में भी राग नहीं है। शुद्ध आत्मा की ऐसी भावना तो अमृत है; राग तो उससे विरुद्ध है, बन्ध का कारण है।

जिसमें शुद्ध चैतन्यभाव का भवन हो, उसे ही सच्ची भावना कहते हैं। अमृत के सागर – ऐसे अन्तर स्वरूप में एकाग्र होने पर जो आनन्दमय अमृत का झरना झरता है, उसका नाम भावना है। वह कैसी है? अपने शुद्धपारिणामिकस्वभाव का अवलम्बन करनेवाली है, रागरहित है। चौथे गुणस्थान से ऐसी भावनापरिणति शुरु होती है। उपशमादि तीन भाव, चौथे गुणस्थान में भी होते हैं।

सम्यक्त्व प्रगट होने के काल में, तथा तत्पश्चात् भी किसी-किसी समय चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता है। इसके अतिरिक्त काल में भी जितनी शुद्धपरिणति हुई है, उसका नाम भावना है और वह मोक्ष का साधन है। वह भावना किसे भाती है ? वह शुद्ध पारिणामिकभाव को विषय करती है, अर्थात् उसे भाती है – उसमें तन्मय-एकाग्र होती है।

कोई ऐसा कहता है कि चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता ही नहीं – तो उसे भगवान के मार्ग का पता नहीं है; सम्यक्त्व क्या चीज है ? इसका भी उसे पता नहीं है। बापू ! शुद्धोपयोग के बिना तुझे भगवान का मार्ग हाथ नहीं आयेगा। शुद्धता के बिना अकेले राग से तू मोक्षमार्ग मान ले तो यह बात वीतराग भगवान के मार्ग में नहीं चलती है। चौथे गुणस्थान में उपशम सम्यग्दर्शन, शुद्धोपयोगपूर्वक ही होता है – यह सिद्धान्त का नियम है। शुभराग से सम्यग्दर्शन हो जाए – ऐसा कभी नहीं होता है। परमात्मस्वभाव की सन्मुखतारूप भाव, वह भावना है; वह राग का अवलम्बन करनेवाली नहीं है; अन्तर्मुख शुद्ध चैतन्य परमभाव को ध्येय बनाकर, उसका ही अवलम्बन करनेवाली है – उसमें एकाग्र होती है, वह शुद्ध उपादानरूप मोक्ष का कारण है। वह पर्यायरूप है, इसलिए वह मोक्ष का कारण है; शुद्ध पारिणामिकभाव तो द्रव्यरूप है, उसमें कारण-कार्यपना नहीं है। बन्ध-मोक्ष के कारणरूप परिणाम, वह पर्याय है। द्रव्य स्वयं बन्ध-मोक्ष का कारण नहीं होता है; वह तो तटस्थ ध्रुवभाव से एकरूप है। वह स्वयं भावनारूप नहीं परन्तु भावना के विषयरूप है – ध्येयरूप है।

किसकी भावना से मोक्ष प्रगट होता है ? अपने शुद्धस्वभाव

की भावना से मोक्ष प्रगट होता है। भाई! ऐसे अपने स्वभाव की भावना छोड़कर तू राग की और पुण्य की भावना में कहाँ फँस गया! तेरा आत्मा कहीं राग से जुड़ा हुआ नहीं है। आत्मा तो ज्ञान से भरा हुआ है। जिसकी एक समय की अवस्था में अनन्त पदार्थों को जानने की सामर्थ्य है, उसकी अपार सामर्थ्य का क्या कहना! चारों तरफ अमाप... अमाप.... जिसका कहीं माप नहीं – ऐसा अमाप बेहद आकाश (अनन्त को अनन्त बार गुणित करे) तो भी जिसके प्रदेशों का माप नहीं आवे – ऐसा अनन्त आकाशक्षेत्र है, उसे भी एक समय में जो प्रत्यक्ष कर सकता है–उससे भी अनन्तगुना जानने की जिसकी सामर्थ्य है – अहो! उस ज्ञान की सामर्थ्य कितनी! उसकी महिमा कितनी!! ऐसे ज्ञान में राग का कण कैसे समायेगा? त्रिकाल ऐसे ज्ञानसामर्थ्य से भरपूर अनादि–अनन्त हूँ... हूँ... हूँ – ऐसा स्वसन्मुख होकर ज्ञानपर्याय जानती है। अनन्त गुण और अनन्त पर्यायोंरूप सम्पूर्ण आत्मा को एक ज्ञानपर्याय जान लेती है और आत्मा के अतिरिक्त जगत् के दूसरे अनन्त पदार्थों की अस्ति को भी ज्ञान जान लेता है। जिसके एक अंश में इतनी सामर्थ्य! ऐसे अनन्त अंशों का समुद्र एक गुण और ऐसे अनन्त गुणों से भरपूर द्रव्य – ऐसे स्वद्रव्य की भावना करने पर अन्दर से जो प्रवाह आया, वह रागरहित है, आनन्द से भरपूर है – ऐसी भावना, वह अपूर्व महान दशा है। राग में ताकत नहीं है कि ऐसे स्वद्रव्य को भा सके।

स्वद्रव्य की भावना रागरहित है, उसे राग का–विकल्प का आधार नहीं है। राग की मन्दता द्वारा अन्तर स्वभाव में प्रवेश हो जाए – ऐसा नहीं है। मन्दराग कहीं आत्मा को जानने का साधन

नहीं है। रागरहित आत्मा, राग द्वारा ज्ञात कैसे होगा ? वह तो ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होगा। आत्मा स्वयं रागरहित है, और उसके आश्रय से जो मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, वह भी रागरहित है।

प्रश्न – राग तो दसवें गुणस्थान तक होता है, उसका अभाव तो ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में होता है और मोक्षमार्ग की शुरुआत तो चौथे गुणस्थान से होती है – तो मोक्षमार्ग को रागरहित कैसे कहा है ?

उत्तर – जैसे जगत् में जड़ पदार्थ हैं परन्तु आत्मा में तो उनका अभाव ही है; उसी प्रकार नीचे के गुणस्थानों में राग होता है परन्तु साधक का जो निर्मलभाव है, उसमें तो उस राग का सर्वथा अभाव ही है। साधक की निर्मलपरिणति और राग – इन दोनों को एकत्व नहीं परन्तु भिन्नत्व है। उसमें निर्मलपरिणति, मोक्षमार्ग है और राग, मोक्षमार्ग नहीं है; इसलिए मोक्षमार्ग तो चौथे गुणस्थान में ही रागरहित ही है। शुद्धता की धारा और राग की धारा, दोनों भिन्न है। औपशमिकभाव और औदयिकभाव दोनों भिन्न हैं। शुद्धता की धारा मोक्ष की ओर जाती है तथा राग की धारा बन्ध की ओर जाती है; इस प्रकार मोक्षमार्ग तीनों काल रागरहित ही है। दूसरे स्थूल राग की तो क्या बात.... परन्तु एक द्रव्य में अनन्त गुण हैं – ऐसा गुण-गुणी के भेदरूप विकल्पों का भी, आत्मा की निर्मलदशा में अभाव है – 'ऐसा मार्ग वीतराग का कहा श्री भगवान।' देखो, यह मोक्ष का मार्ग, भाई! यह तो जिसे जन्म-मरण के दु:ख की थकान लगी हो और उससे छूटने के लिए आत्मा के अनुभव की धगश जगी हो – ऐसे आत्मार्थी के लिए बात है। बाकी संसार के विषयों में जिसे लहर लगती हो और उनमें से

हटना न हो, उसके लिए तो विषयातीत आत्मा की यह बात किसी प्रकार से पकड़ में नहीं आयेगी क्योंकि उसे तो आत्मा को समझने की आवश्यकता ही नहीं लगी है, गरज नहीं है, धगश नहीं है। जिसे अन्तर में ऐसा लगता है कि अरे! मैं मेरे चैतन्य की प्रभुता को भूलकर इस पामररूप से भटक रहा हूँ, यह मुझे शोभा नहीं देता। आत्मा का स्वरूप समझकर कल्याण करने का अभी यह अवसर है – ऐसा गरजवान होकर समझना चाहे तो अवश्य यह बात समझ में आती है।

आत्मा के अतिरिक्त उसकी परिणति में कहीं चैन नहीं पड़े; इस प्रकार आत्मा के सन्मुख होने पर जो सम्यग्दर्शन आदि निर्मलभाव प्रगट हुए, वे मोक्षमार्ग हैं। उन्हें 'भावना' इत्यादि अनेक नामों से कहा जाता है। जैसे, जिसे संसार की बात का प्रेम होता है, उसमें उसका उपयोग एकदम जुड़ जाता है, वहाँ वह प्रमादी नहीं होता; इसी प्रकार मोक्ष के लिए आत्मा के चैतन्यस्वभाव का जिसे रस हो, उसे उसका उत्साह आता है और उसमें सहज ही ज्ञान का व्यापार चलता है। सूक्ष्म तत्त्व में भी वह उलझन में नहीं आता परन्तु 'यह तो मेरा स्वभाव ही है' – ऐसा उसमें उसका उपयोग लगता है। उस उपयोग में राग का अवलम्बन नहीं है; स्वभाव का ही अवलम्बन है, इसका नाम धर्म है।

प्रश्न – यदि राग का अवलम्बन नहीं है तो फिर जिनप्रतिमा का अवलम्बन किसलिए?

उत्तर – जिसे आत्मा के वीतरागभाव का प्रेम होता है परन्तु अभी राग हो, उसे शुभराग के समय वीतरागता के निमित्तों के प्रति लक्ष्य जाता है। जिनप्रतिमा, वीतरागभाव का प्रतिबिम्ब है – ऐसी

प्रतिमा का अवलम्बन शुभराग के समय होता है। शुद्धता में तो अपने स्वभाव का ही अवलम्बन है, उसमें किसी पर का अवलम्बन नहीं है। जिनप्रतिमाजी के दर्शन-पूजन के शुभराग को मोक्षमार्ग मान ले तो वह भूल है और धर्मी को ऐसा शुभराग होता ही नहीं – ऐसा माने तो वह भी भूल है। जिस भूमिका में जैसा हो, वैसा पहचानना चाहिए। किस भूमिका में कितनी शुद्धता होती है, कितना राग होता है और उस राग में कैसे निमित्त होते हैं ? – ऐसा विवेक धर्मी को होता है।

(जिसे) मुनिदशा के योग्य शुद्धता प्रगट हुई हो और शरीर पर वस्त्र ओढ़कर घुमने का राग हो – ऐसा नहीं हो सकता। वस्त्र के रागसहित मुनिदशा माननेवाले को मुनिदशा की शुद्धता का परिचय नहीं है। छठवें-सातवें गुणस्थान में मुनि को वस्त्र का राग नहीं होता, फिर भी वस्त्र होना मानता है; और चौथे-पाँचवें गुणस्थान में जिनपूजा इत्यादि राग होता है, फिर भी कहाँ उसके निमित्तरूप जिनप्रतिमा आदि का निषेध करता है; इस प्रकार अज्ञानी को धर्म की भूमिका का भान नहीं है और इस भूमिका में कैसे निमित्त होते हैं ? – इसकी भी उसे पहचान नहीं है।

जिनप्रतिमा का स्वीकार किया; इस कारण कहीं उसके अवलम्बन से मोक्षमार्ग हो जाता है – ऐसा नहीं है। रागरहित आत्मस्वभाव का भान होने पर भी साधकभूमिका में राग बाकी हो, वहाँ जैसे परमात्मा के गुणों का स्तवन शुभराग है, फिर भी वह भाव आता है; उसी प्रकार भगवान की प्रतिमा का अवलम्बन भी शुभराग है, फिर भी वह भाव आता है। उसी समय निज परमात्मा के अवलम्बन से जितनी शुद्धता प्रगट हुई है, उतना ही

मोक्षमार्ग है। जैसे, गुरु की सेवा, धर्म का श्रवण आदि शुभभाव है; वैसे ही जिनदेव के दर्शन-पूजन भी शुभभाव है। शुभ को शुभरूप से जानना चाहिए और शुद्धता की धारा इनसे पृथक् है, उसे पहचानना चाहिए।

यह तो सर्वज्ञ वीतराग का अलौकिकमार्ग है। इसमें द्रव्य-पर्याय निश्चय-व्यवहार शुद्ध और शुभ-पुण्य और पाप सबका स्वरूप जैसा है, वैसा पहचानना चाहिए और उसमें से अपना हित किस प्रकार है ? – इसका विवेक करना चाहिए। एक भूमिका में निर्मलता होवे, वह अलग; और राग होता है, वह अलग है; दोनों का मिश्रण नहीं है। व्यवहार के स्थान में व्यवहार होता है परन्तु निश्चयस्वभाव का अवलम्बन करनेवाले को अन्तर में व्यवहार का अवलम्बन नहीं रहता है।

* निश्चयस्वभाव-आश्रित मोक्षमार्ग है; उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

* निज परमात्मा की भावना, मोक्षमार्ग है; उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

* औपशमिक आदि भाव, मोक्षमार्ग है; उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

* सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, मोक्षमार्ग है; उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

* शुद्ध उपादानकारण, मोक्षमार्ग है; उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

* भावश्रुतज्ञान, मोक्षमार्ग है; उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

* शुद्धात्म-अभिमुखपरिणाम, मोक्षमार्ग है; उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

* शुद्धात्मा के ध्यानरूप मोक्षमार्ग है; उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

* शुद्धोपयोग, मोक्षमार्ग है; उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

* वीतरागभाव, मोक्षमार्ग है; उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

– इस प्रकार मोक्षमार्ग के भाव में कहीं राग का अवलम्बन नहीं; अपने परमस्वभाव का ही अवलम्बन है। राग तो उदयभाव है। यदि राग के आधार से उपशमादिभाव होते हों, तब तो दोनों पृथक् नहीं रहें। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दरस का झरना, शान्तरस का सरोवर है। उसमें एकाग्र होने पर जो दशा प्रगट हुई, वही मोक्षमार्ग है। ऐसी शुद्धवस्तु के अनुभव बिना तीन काल में भव का अभाव नहीं हो सकता है।

अरे! ऐसा मार्ग सुनकर भी जीव पुकार करते हैं कि हमारा व्यवहार उड़ जाता है... पुण्य उड़ जाता है! परन्तु जरा धीरजवान होकर सुन, भाई!

* क्या राग होवे तो वीतरागता होती है?

* क्या व्यवहार के अवलम्बन से निश्चय होगा?

* क्या दोष के द्वारा निर्दोषता प्रगट होगी?

अरे! यह किसके घर की बात! राग से वीतरागता कभी नहीं होती; राग के अभाव से वीतरागता होती है। निश्चयस्वभाव के अवलम्बन से ही निश्चयमोक्षमार्ग होता है, राग तो दोष है; उसके द्वारा निर्दोषता नहीं होती परन्तु निर्दोषस्वभाव के अनुभव से ही

निर्दोषता होती है – ऐसा स्पष्ट मार्ग.... इसमें कहीं गड़बड़ चले – ऐसा नहीं है। शुद्धपारिणामिकभावरूप द्रव्य में कारण-कार्यपने की क्रिया नहीं है परन्तु उसकी सन्मुखता से प्रगट हुई पर्याय – जो कि उपशम, क्षयोपशम या क्षायिकभावरूप है – वह मोक्ष का कारण है। यहाँ कारण-कार्य दोनों पर्याय में है; द्रव्य में नहीं। पर्याय को अभेद करके कहें, तब उस पर्यायरूप परिणमित आत्मा, मोक्ष का कारण कहलाता है। पर्याय को द्रव्य का आश्रय है; द्रव्य की सन्मुखता से उसके आश्रय से हुई पर्याय, मोक्षमार्ग है; उसमें राग का अभाव है।

निर्मलपर्याय में मोक्ष का साधन होने की सामर्थ्य है; राग में वैसी सामर्थ्य नहीं है। पर्याय भले ही क्षणिक है परन्तु उसमें भी ऐसी ताकत है.... पर्याय, अर्थात् तो मानो कि कुछ ही नहीं – ऐसा नहीं है। यहाँ तो **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** सिद्ध करना है। जैसे द्रव्य, सत् का अंश है, वैसे ही पर्याय भी सत् का अंश है, वह भी वस्तु में स्वतःसिद्ध है, वह कहीं असत् नहीं है। सत् वस्तु द्रव्यरूप रहकर प्रति समय नयी-नयी अवस्थारूप उपजती है और पुरानी पर्याय का व्यय होता है – ऐसा सत् वस्तु का स्वरूप है। शास्त्रकारों ने जहाँ जिस अपेक्षा से जो कहा है, वह यथार्थ है, उसमें कहीं विरोध नहीं है।

भगवान! तू द्रव्यरूप से ध्रुव है और तेरी अवस्था बदलती है; उस अवस्था में मोक्षमार्ग और मोक्ष है, ध्रुव में नहीं है। जो द्रव्य अंश है, वह पर्याय अंशरूप नहीं हो जाता और जो पर्याय अंश है, वह त्रिकाली द्रव्य अंशरूप नहीं हो जाता; दोनों अंश, दोनों धर्म एक वस्तु में एक साथ हैं। इस प्रकार दो अंशरूप सम्पूर्ण वस्तु

सिद्ध करके उसके पाँच भाव समझाये हैं। एक भाव, द्रव्यरूप और चार भाव, पर्यायरूप हैं। मोक्षमार्ग, पर्याय है, वह उपशमादि तीन भावोंरूप है; उसमें रागादि उदयभावों का अभाव है और पारिणामिकभाव, बन्ध-मोक्ष की अपेक्षा से रहित है।

* एक वस्तु के दो अंश – एक द्रव्य और दूसरा पर्याय;

* द्रव्य सामान्यरूप ध्रुव त्रिकाल;

* पर्याय, वह विशेष – उत्पाद-व्ययरूप वर्तमानमात्र।

ये दोनों प्रकार के भाव एक वस्तु में रहते हैं परन्तु पारस्परिक ये दोनों भाव, एक नहीं हैं। वस्तुरूप से सामान्य-विशेष दोनों होकर एक हैं परन्तु उसमें जो सामान्य है, वह विशेष नहीं; सामान्य स्वयं एक विशेष अंश में आ नहीं जाता। आत्मा का ध्रुवस्वभाव श्रद्धा-ज्ञान में आता है परन्तु वह एक पर्यायरूप नहीं हो जाता है। अलिङ्गग्रहण के (प्रवचनसार, गाथा १७२ में) बीस अर्थों में इसका अद्भुत स्पष्टीकरण करके परमार्थ आत्मा बतलाया है। ज्ञान की अपूर्णदशा के समय भी ध्रुव तो पूरा ही है और केवलज्ञान प्रगट हो, तब भी ध्रुव उतना का उतना ही है; ध्रुव, कम या अधिक नहीं होता; अधूरी या पूरी पर्याय की अपेक्षा ध्रुव को नहीं है। अपूर्ण पर्याय के समय ध्रुव में अधिक और पूर्णपर्याय के समय ध्रुव में कम – ऐसा नहीं है। मतिज्ञान या केवलज्ञान, दोनों समय ज्ञानगुण इतना का इतना है, उसमें न्यूनाधिकता नहीं है। इस प्रकार ज्ञान की तरह आनन्दादि समस्त गुणों में समझ लेना चाहिए।

गुण में अशुद्धि नहीं होती है। वस्तु के एकरूप शुद्धस्वभाव के लक्ष्य से पर्याय में शुद्धता होती है, वह पर्याय उस समय का सत्

अंश है, स्वतन्त्र है और उसी समय ध्रुव सत् पूर्ण सामर्थ्यसहित वर्तता है। ऐसी गुण-पर्यायरूप वस्तु है, उसे पहचानने से मोक्षमार्ग प्रगट होता है, फिर मोक्ष होने पर पूर्ण ज्ञान-आनन्द प्रगट होते हैं। पहले अपूर्ण आनन्द था और अन्दर से पूर्ण अनन्त आनन्द प्रगट हुआ, फिर भी अन्दर शक्तिरूप ध्रुव तो इतना का इतना रहा। उसमें से तो कुछ कम नहीं हुआ – तब हुआ क्या? तो कहते हैं कि पर्यायधर्म की परिपूर्णता प्रगट हुई। आत्मा, द्रव्यधर्म से तो पूरा था ही और अब पर्यायधर्म भी पूरा हुआ। पूर्णस्वभाव को अवलम्बन करनेवाली पर्याय, वह ऐसी मोक्षदशा का कारण है।

आत्मवस्तु, द्रव्यरूप से शाश्वत् है, उसे पारिणामिक परमभाव कहा जाता है। अवस्था में रागादि दुःखरूप भाव हैं, वह औदयिकभाव है। आनन्दकन्दस्वभाव का भान करके, उसके सन्मुख परिणमित होने से रागरहित भाव प्रगट हों, वह औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभाव है और वह मोक्ष का कारण है। पारिणामिकभाव, मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि वह ध्रुव है; वह बन्ध-मोक्षरूप परिणमित नहीं होता। परिणमन, पर्याय अपेक्षा से है; इसलिए मोक्ष का कारण भी पर्याय में है।

शुद्ध एक अखण्ड चैतन्यवस्तु, वह देह की मिट्टी से निराली, कर्म के रजकणों से निराली, राग से भी निराली और जो एक पर्याय व्यक्त अंशरूप है, उतना ही उसका सम्पूर्ण स्वरूप नहीं है; वह तो पूर्ण शक्ति से सदा परिपूर्ण है। ऐसे स्वभाव के आश्रय से होनेवाली भावना-परिणति, वह मोक्ष का कारण है, वह रागरहित है; उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों समाहित होते हैं। राग, मोक्ष का कारण नहीं है परन्तु बन्ध का कारण है। ध्रुवभाव, बन्ध का या मोक्ष

का कारण नहीं है। पाँच भावों के वर्णन में तो इतने ही स्पष्टीकरण आ जाते हैं।

बन्ध का अभाव करके मोक्षदशा प्रगट करना, वह क्रिया है और क्रिया वह परिणमन है। कारण-कार्य की क्रियारूप परिणमन पर्याय में है; द्रव्यदृष्टि के विषयरूप द्रव्य में वह नहीं है, इसलिए द्रव्य को 'निष्क्रिय' भी कहा जाता है। वस्तु स्वयं पूर्णानन्दस्वरूप है, उसमें से पर्यायों का प्रवाह आता है, परन्तु उसमें सामान्य अंश, विशेष अंशरूप नहीं होता, इस अपेक्षा से दोनों 'कथञ्चित् भिन्न' कहे गये हैं। द्रव्यदृष्टि में यह कारण और यह कार्य – ऐसा भेद दिखायी नहीं देता; कारण-कार्य भी पर्याय में है, अर्थात् मोक्ष का कारण, पूर्व की मोक्षमार्गरूप पर्याय है, यद्यपि यह भी व्यवहार है। वस्तुत: तो पर्यायधर्म (भी) स्वतन्त्र है, निरपेक्ष है। कारण-कार्य दोनों एक समय में भी समाहित हो जाते हैं। आत्मवस्तु स्वयं द्रव्यधर्म और पर्यायधर्म – ऐसे दो स्वभाववाली हैं।

अपना वास्तविक स्वरूप भूलकर, जीव का अनन्त काल संसार-भ्रमण में ही व्यतीत हुआ है। दु:ख क्यों है और उसका अभाव होकर सुख कैसे प्रगट हो? अपने में पलटना, वह क्या है और टिकना, वह क्या है? किसके लक्ष्य से पूर्ण सुखी हुआ जाता है? – ऐसा विचार करके, सच्चा भान करने का अभी अवसर आया है। दोष क्षणिक है और उसका अभाव हो सकता है। त्रिकाल स्वभाव आनन्दरूप है, उसके सन्मुख होकर उसके साथ पर्याय की एकता करने से पर्याय भी आनन्दरूप हो जाती है और दु:ख का अभाव होता है।

ध्रुव अनादि-अनन्त स्वभाव, वह पारिणामिकभाव है। उसका

अवलम्बन करके निर्मलदशा हुई, वह औपशमिकादिभाव है। इन दोनों में रागादि उदयभाव का अभाव है, इसका नाम मोक्षमार्ग है। भाई! तेरे अन्तर में शाश्वत् चैतन्यप्रभु को देखने के लिए दृष्टि को स्थिर करके टकटकी लगा (अर्थात्) ज्ञानचक्षु द्वारा अन्तर में नजर एकाग्र कर! निज परमार्थ तत्त्व की भावना कर! – ऐसा करने से तेरा मोक्ष का दरवाजा खुल जाएगा।

अहो! यह अध्यात्मवस्तु पहचानने जैसी है। चैतन्य का अगम खजाना अन्दर भरा है। अन्तर के अनन्त प्रयत्न द्वारा जिसका पता लगे और अनुभव में आवे – ऐसी यह चीज है। बाहर के विकल्पों से इसका पता नहीं लगता है। विकल्प का उत्थान चैतन्यस्वरूप में नहीं है। यदि चैतन्यस्वरूप में विकल्प होवे तो उनका कभी अभाव नहीं होगा। चैतन्यभाव और विकल्प-रागभाव, इन दोनों की जाति ही अलग है। चैतन्यवस्तु को ध्रुवस्वभावरूप से देखो, तब तो मोक्षस्वरूप ही है, उसे शक्तिरूप मोक्ष कहते हैं। (सर्व जीव है सिद्धसम; सिद्ध समान सदा पद मेरो....) उस स्वभाव के सन्मुख होने से पर्याय में से राग-द्वेष-मोहरूप बन्धन का अभाव होकर, वीतरागी मोक्षदशा प्रगट होती है, वह व्यक्तिरूप मोक्ष है। यहाँ उसके कारणरूप शुद्धपर्याय का विचार चल रहा है।

मोक्ष के कारणरूप जो शुद्धपर्याय है, उसमें आनन्द का वेदन है और राग का अभाव है। वह पर्याय, ध्रुवस्वभाव का अवलम्बन करनेवाली है। जीव को अपने असली चिदानन्दस्वभाव की महिमा भासित हो तो उसे रागादि परभावों की महिमा उड़ जाती है और बाहर के अल्प क्षयोपशम की महिमा छूट जाती है; इसलिए वहाँ से विमुख होकर अन्तर में चैतन्य-चमत्कार के सन्मुख होता है।

अस्थिरभावों में दृष्टि स्थिर नहीं होती है। महिमावन्त ऐसा अपना स्थिर स्वभाव है, उसमें दृष्टि करे तो वहाँ दृष्टि स्थिर हो और परम आनन्द के वेदनरूप दशा प्रगट हो। ऐसी दशा मोक्ष का कारण है। मोक्ष के ऐसे मार्ग को जीवों ने अनादि से जाना नहीं है, तो वे उसे साधेंगे कैसे ? अन्दर अपनी वस्तु में कितनी सामर्थ्य और आनन्द है ? – उसका माप करना जीव को नहीं आता है। वह माप किस प्रकार निकलता है ? अन्तर्मुख हुई ज्ञान–पर्याय द्वारा उसका माप निकलता हैद्य विकल्प द्वारा उसका माप नहीं निकलता। अन्दर में आनन्द की अकूत खान भरी है; उसका अवलम्बन करके जो भाव होता है, वही पूर्णानन्दरूप मोक्षदशा का कारण होता है, उसे शुद्धउपादानकारण भी कहते हैं।

त्रिकाली द्रव्य को भी शुद्धउपादान कहते हैं और उसके आश्रय से भी शुद्धपर्याय हुई, उसे भी शुद्धउपादान कहते हैं और इसी समय पूर्व पर्यायरूप वर्तते द्रव्य को उत्तरपर्याय का उपादान कहते हैं। द्रव्य–पर्यायरूप वस्तु में जिस समय जो विवक्षा हो, वह समझना चाहिए। द्रव्य–पर्यायरूप वस्तु को जाने बिना कार्य –सिद्धि नहीं हो सकती है। पर्यायरहित अकेले ध्रुव को माननेवाले को दुःख बदलकर आनन्द का अनुभव प्रगट होना हो नहीं सकता और ध्रुवरहित अकेली अवस्था माननेवाले को भी दुःखी में से सुखी होना नहीं हो सकता क्योंकि दूसरे समय में तो उसका अस्तित्व ही नहीं रहता – तो सुखी कौन होगा ? इसलिए द्रव्य –पर्याय दोनों रूप वस्तु है, उसके स्वीकार से ही सब सिद्धि होती है। कल्पना द्वारा कोई जीव धर्म के नाम पर कुछ भी विपरीत मान ले, उससे कहीं वस्तुस्थिति वैसी नहीं हो जाती है परन्तु उसके

ज्ञान-श्रद्धा मिथ्या होते हैं और इसलिए वह जीव, दु:खी होता है। अरे! आनन्द का धाम चैतन्यवस्तु आत्मा... उसे दु:ख कैसे रुचेगा! भाई! आनन्द से भरपूर तेरे ध्रुवभाव में दृष्टि करने से तेरी पर्याय भी आनन्दमय हो जाएगी – उसे भगवान, मोक्ष का कारण कहते हैं।

सम्यग्दर्शन शुद्ध पारिणामिक परमभाव को विषय करता है; उसे श्रद्धा में लेकर उसमें अभेद होता है, इसका नाम भावना है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी उसे ही अवलम्बन करके अभेद होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का अवलम्बन क्या? अपना परमस्वभाव ही उसका अवलम्बन है; राग या निमित्त, वह कोई मोक्षमार्ग का अवलम्बन नहीं है। कलियुग में तो आगम और जिनबिम्ब का आधार है, यह बात व्यवहार की है। तीनों काल भगवान आत्मा चैतन्यबिम्ब स्वयं अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अवलम्बन देनेवाला है।

* सम्यग्दर्शनपर्याय को द्रव्य का अवलम्बन है, राग का नहीं;

* सम्यग्ज्ञानपर्याय को द्रव्य का अवलम्बन है, राग का अवलम्बन नहीं;

* सम्यक्चारित्र को द्रव्य का अवलम्बन है, राग का अवलम्बन नहीं;

* क्षायिकभाव को द्रव्य का अवलम्बन है, राग का अवलम्बन नहीं;

* उपशमभाव को द्रव्य का अवलम्बन है, राग का अवलम्बन नहीं;

* सम्यक्क्षयोपशमभाव को द्रव्य का अवलम्बन है, राग का अवलम्बन नहीं;

* शुद्धपरिणतिरूप भावना को द्रव्य का अवलम्बन है, राग का अवलम्बन नहीं;

– इस प्रकार मोक्षमार्ग के समस्त निर्मलभावों में अपने शुद्ध आत्मद्रव्य का ही अवलम्बन है; अन्य किसी का अवलम्बन उसमें नहीं है। अवलम्बन लेना, अर्थात् उसमें अभेद होकर उसे भाना-ध्याना; वही भावना है – ऐसी अभेद भावना, वह मोक्षमार्ग है, उसमें राग का विकल्प नहीं है। ऐसी जो रागरहित भावना है, वह उपशमादि भावोंरूप है। पारिणामिकभाव स्वयं भावनारूप नहीं है परन्तु भावना के विषयरूप है। भावना कहो, शुद्ध चैतन्य परिणाम कहो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो, उपशम आदि भाव कहो, या मोक्षमार्ग इत्यादि नाम कहो, वे सब एक पर्याय को ही लागू पड़ते हैं। उस पर्याय ने अन्तर्मुख होकर अपने परम स्वभाव का अवलम्बन लिया है, वह शुद्धात्माभिमुख हुई है। जीव की ऐसी दशा होती है, तब वह मोक्षमार्ग में आया कहलाता है।

वस्तु नित्य-अनित्यस्वरूप है। नय के द्वारा उसका ज्ञान करने के लिए अथवा कथन करने के लिए उसके किसी धर्म को मुख्य -गौण किया जाता है परन्तु शुद्ध आत्मा को साधने के लिए तो शुद्ध आत्मा का स्वभाव ही सदा मुख्य है, वही निश्चय है; उसी का अवलम्बन है। शुद्ध स्वभाव के ही अवलम्बन से शुद्धता प्रगट होती है; इसलिए वही मुख्य है और रागादि भेदों के अवलम्बन से शुद्धता नहीं होती; इसलिए वह गौण है, व्यवहार है।

मोक्ष का कारण, पर्याय है परन्तु वह पर्याय स्वयं पर्याय के

सन्मुख नहीं देखती; वह तो अन्तर्मुख होकर शुद्धद्रव्य को देखती है। शुद्धद्रव्य के सन्मुख होकर उसे देखनेवाली पर्याय, मोक्ष-कारणरूप परिणमित हो जाती है। **द्रवतीति द्रव्यं** अर्थात् अपनी पर्याय को द्रवित हो, वह द्रव्य – ऐसी व्याख्या आती है, वह वस्तु को लागू पड़ती है। वस्तु अपनी पर्याय को द्रवती है, अर्थात् अपने परिणमनस्वभाव द्वारा उस-उस पर्यायरूप परिणमित होती है। द्रव्य-अंश की अपेक्षा से वस्तु अपरिणामी है और पर्याय-अंश की अपेक्षा से वह परिणामी है; इस प्रकार सत् वस्तु दोनों अंशरूप है।

अहो! यह तो जैनधर्म के स्याद्वाद की सुगन्ध है। शुद्धद्रव्य की भावना द्वारा शुद्धपर्याय हुई, अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों रागरहित शुद्ध हुए। परमात्मा की भावनारूप जो भाव है, उसके द्वारा चैतन्य परमेश्वर के दरबार में प्रवेश होता है; उस भावना में निश्चयरत्नत्रय समाहित हो जाता है परन्तु उसमें राग का प्रवेश नहीं है। भाई! तेरी मोक्षपर्याय का कारण, देहादि पर में तो नहीं; रागादि उदयभाव में भी नहीं है; ध्रुवस्वभाव के सन्मुख देखने से मोक्षमार्ग प्रगट होता है, तथापि ध्रुवस्वभाव स्वयं मोक्ष के कारणरूप नहीं होता; मोक्ष के कारणरूप भावना, परिणति (पर्याय) है। उत्पाद-विनाशरहित, बन्ध-मोक्षरहित, परम आनन्द से भरपूर जो सहज पारिणामिक परमभाव है, उसमें पर्याय एकाकार होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का झरना बहता है – ऐसे निजस्वरूप को भाना-अनुभव करना, उसमें परिणमित होना, वह मोक्ष की सच्ची भावना है, ऐसी भावना द्वारा भव का अभाव होता है।

मोक्ष के कारणरूप यह भावना परिणति, चौथे गुणस्थान से शुरु होकर बारहवें गुणस्थान तक होती है। तत्पश्चात् केवलज्ञान

तो उस भावना का फल है। सम्यक्त्व, चौथे से सातवें गुणस्थान तक औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक तीन में से किसी भी प्रकार का होता है। पश्चात् श्रेणी में क्षायोपशमिकसम्यक्त्व नहीं होता, उपशम या क्षायिक ही होता है। किसी जीव को उपशम –सम्यक्त्वसहित उपशमश्रेणी होती है और किसी जीव को क्षायिक –सम्यक्त्वसहित उपशमश्रेणी होती है परन्तु क्षपकश्रेणी तो नियम से क्षायिकसम्यक्त्वसहित ही होती है। धर्मी का ज्ञान तो चौथे से बारहवें गुणस्थान तक क्षायोपशमिकभावरूप ही होता है, पश्चात् केवलज्ञान होता है, वह क्षायिकभावरूप है। केवलज्ञान होने के बाद भावना करना या एक ओर ढलना नहीं रहता है।

अरे जीव! अपने ऐसे उत्तम तत्त्व की भावना तो कर! ऐसे तत्त्व के अनुभव की तो क्या बात! उसका विचार करे तो भी शरीर और रोग सब विस्मृत हो जाए – ऐसा है। शरीर की सम्हाल, अर्थात् ममता के कारण आत्मा को भूल रहा है, उसके बदले शरीर को भूलकर आत्मा की सम्हाल करना! शरीर कहाँ तेरे सम्हाले सम्हलता है ? तू चाहे जितनी सम्हाल कर, तो भी वह तो उसके काल में छूट जानेवाला है, उसकी ममता करके तू व्यर्थ ही दुःखी होगा। कहाँ मृतक-कलेवर शरीर और कहाँ आनन्द से भरपूर आत्मा! दोनों जरा से एक क्षेत्र में रहे वहाँ तो आत्मा अपने को भूलकर शरीररूप ही स्वयं को मान बैठा। बापू! तू शरीर नहीं, तू तो अरूपी आनन्दघन है; जाननेवाला जागृतभाव वही तू है – ऐसे आत्मा को लक्ष्य में ले।

आत्मतत्त्व, देहादि से तो सदाकाल भिन्न है; राग से भी उसका स्वरूप भिन्न है। अब, अभेद से देखो तो निर्मलपर्यायरूप परिणमित

शुद्ध आत्मा, मोक्ष का कारण है और भेद से देखो तो निर्मलपर्याय, मोक्ष का कारण है; अपने द्रव्य और पर्याय के बीच ही बात है। सत् के आश्रय से परिणमित पर्याय भी सत् में समाहित होती है। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों सत् हैं; ध्रुवधाम को अवलम्बन करके परिणमति हुई पर्याय, वह मोक्षमार्ग है। अभेदरूप से शुद्धद्रव्य को भी मोक्ष का कारण कहते हैं क्योंकि उसमें एकाकार होकर मोक्ष-पर्याय परिणमित होती है। एक पर्याय में से दूसरी पर्याय नहीं आती; इसलिए पर्याय का कारण पूर्व पर्याय को कहना भी व्यवहार है, भेद है। उस-उस समय के द्रव्य-पर्याय स्वयं से सत् है।

अभी पर्याय में कारण-कार्यपना बतलाना है और ध्रुव में कारण-कार्यपना नहीं है, इसलिए उसे अक्रिय कहेंगे। पर्याय और ध्रुव दोनों सत् के अंश हैं। जैसे, ध्रुव सत् है, वैसे पर्याय भी सत् है। द्रव्य-पर्याय दोनों वस्तुस्वरूप है। वस्तु स्वयं द्रव्य-पर्यायरूप है – ऐसे दोनों स्वभावरूप अनेकान्तवस्तु को स्याद्वाद से जानने से शास्त्रों का पार पाया जाता है, अर्थात् सम्यग्ज्ञान होता है।

आत्मा के पाँच भावों में कौन-से भाव मोक्ष का कारण हैं, उसका यह वर्णन चल रहा है। स्वभाव की भावना से प्रगट हुए औपशमिक आदि तीन भाव, मोक्ष का कारण है और वे तीनों भाव, रागरहित हैं, अर्थात् राग को / औदयिकभाव को मोक्ष कारण में नहीं लेना; इस प्रकार अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त से मोक्षमार्ग का स्वरूप स्पष्ट किया है। ऐसे मोक्षमार्ग की शुरुआत चौथे गुणस्थान में हो गयी है। रागरहित उपशम आदि भाव, अर्थात् शुद्ध आत्मा का अवलम्बन चौथे गुणस्थान से शुरु हो जाता है। जितना शुद्धात्मा का अवलम्बन, उतनी शुद्धता है और उस शुद्धता के ही उपशम आदि

नाम हैं। उदयभाव उससे बाहर है। जितना शुद्धपरिणमन हुआ, उसमें तो राग है ही नहीं; उस काल में जो राग होता है, वह भी शुद्धज्ञान से पृथकरूप है, एकरूप नहीं है। चौथे गुणस्थान में भी शुद्धात्मा का अवलम्बन करके सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-स्वरूपाचरण हुआ है, वह तो रागरहित ही है।

प्रश्न – वहाँ राग है तो सही न?

समाधान – उस काल में राग हो, उससे क्या? पूरी दुनिया है परन्तु ज्ञान उससे पृथक् है, ज्ञान उसे नहीं करता; उसी प्रकार राग का भी ज्ञान कर्ता होता नहीं है, जानता ही है; इसलिए सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्वादि जो निर्मलभाव हैं, वे तो राग से मुक्त ही हैं, पृथक् ही हैं। आत्मा, पर से तो पृथक् था ही और स्वसन्मुखपरिणति होने पर वह राग से भी पृथक् हुआ। राग, राग में है परन्तु राग, ज्ञान में नहीं है क्योंकि ज्ञान ने राग को पकड़ा नहीं है; ज्ञान में राग ज्ञात होने पर 'यह राग मैं' ऐसा वेदन ज्ञान में नहीं होता परन्तु 'मैं ज्ञान हूँ' – ऐसा ज्ञान तो स्वयं को ज्ञानरूप ही वेदन करता है – ऐसे ज्ञान-वेदन के साथ आनन्द है परन्तु राग उसमें नहीं है।

अरे जीव! मोक्ष के कारणरूप तेरी निर्मलपर्याय कैसी होती है? उसे पहचान तो सही! तेरी मोक्ष सम्पत्ति को पहचानेगा तो वैसी दशा प्रगट होगी। मोक्ष के कारणरूप वह पर्याय, परभावों से शून्य और अपने शुद्धस्वभाव का ही अवलम्बन करनेवाली है। अन्तर में झुकी हुई वह पर्याय, जगत् के पदार्थों से पृथक्, देह से पृथक्, वचन से पृथक्, कर्मों से पृथक् और रागादिभावकर्मों से भी पृथक् है परन्तु वह ज्ञान से भरपूर, श्रद्धा से भरपूर – ऐसे अनन्त निजभावों से भरपूर है।

सम्यग्दृष्टि की सम्पत्ति कोई अलग है, उसकी चैतन्यसम्पत्ति के समक्ष जगत् की किसी सम्पत्ति का मूल्य नहीं है। जगत् की जड़ सम्पत्तियों को धर्मात्मा अपनी नहीं मानता है। निज सम्पत्ति से भरपूर जो चैतन्यस्वभाव, उसके आश्रय से पर्याय में रत्नत्रय आदि निर्मल सम्पत्ति प्रगट होती है, और उसके द्वारा सिद्धपद प्राप्त होता है; इसके अतिरिक्त पुण्य की सम्पत्ति द्वारा सिद्धपद प्राप्त नहीं हो सकता है।

अपने आत्मा को शुद्धरूप से भाने से शुद्धता प्रगट होती है। (जो शुद्ध जाने आत्म को, वह शुद्ध आत्मा ही प्राप्त हो) समकिती ने निर्विकल्प ध्यान में अपने आत्मा को शुद्धरूप से ध्याया, तब सम्यग्दर्शन हुआ। श्रावक को सामायिक के प्रयोग में अनन्त बार शुद्धोपयोगरूप निर्विकल्प अनुभूति होती है। अध्रुव-अशरण इत्यादि जो बारह वैराग्य अनुप्रेक्षाएँ हैं उनमें भी वास्तव में ध्रुवस्वभाव को भाने की मुख्यता है। शरीरादि को अध्रुव चिन्तवन करके, चिदानन्द ध्रुवस्वभाव की ओर झुकने पर ही सच्ची वैराग्य भावना कहलाती है; मात्र शरीर के सन्मुख देखकर 'यह अध्रुव है' — ऐसा चिन्तवन किया करे, वह तो विकल्प है; वह कहीं मोक्ष के कारणरूप भावना नहीं है, मोक्ष के कारणरूप भावना तो शुद्ध स्वभावसन्मुख ढली हुई रागरहितपरिणति है। वह परिणति, उपशम आदि तीन भावोंरूप है। 'मुझे सम्यग्दर्शन होओ, मुझे मुनिदशा होओ....' ऐसे विचाररूप भावना है, उसमें शुभराग है, उसकी यहाँ बात नहीं है; यह तो शुद्धभावरूप जो भवन हुआ, उसका नाम भावना है।

शुद्धस्वभावसन्मुख परिणमते हुए उपशम आदि भावरूप साक्षात् शुद्धपरिणति हुई, वही भावना और वही मोक्षमार्ग है। वह

समस्त रागादिरहित है। ऐसा वीतरागभाव चौथे गुणस्थान से शुरु होता है, और तब वह जीव भगवान के मार्ग में आया कहलाता है। 'ऐसा मार्ग वीतराग का....' वीतराग पन्थ, राग से भिन्न है। चौथे गुणस्थान में शुद्धता का जो छोटे से छोटा अंश है, उसमें भी राग का अभाव ही है। शुद्धता में राग नहीं और राग में शुद्धता नहीं; दोनों की जाति भिन्न है। सम्यग्दृष्टि को द्रव्य में राग नहीं है, गुण में राग नहीं है, और जो निर्मलपर्याय हुई, उसमें भी राग नहीं है; इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों रागरहित शुद्धरूप वर्तते हैं। उसकी दृष्टि में द्रव्य-गुण-पर्याय – ऐसे तीन भेद भी नहीं हैं, वह तो अभेद का अनुभव करता है। भावना में भेद का अवलम्बन नहीं है; अभेद को भाने से शुद्धता का परिणमन हुआ करता है। ऐसी शुद्धता की पूर्णता, वह मोक्ष और आंशिक शुद्धता, वह मोक्षमार्ग है। मोक्ष कहा निज शुद्धता, वह पावे सो पंथ....।

कारण-कार्य एक प्रकार का होता है। शुद्धकारण का अनुसरण करके ही शुद्धकार्य होता है। शुभराग कारण होकर तो अशुद्धतारूप कार्य को करेगा परन्तु वह कहीं शुद्धकार्य को नहीं करेगा। शुद्ध कार्य का कारण तो शुद्ध ही होता है; इसलिए रागरहित होता है। अभी तो शुभराग, मोक्ष का कारण नहीं है, जबकि अज्ञानी, जड़ की क्रियाओं को मोक्ष का कारण मानता है, यह बात तो कहाँ रही? यह तो गयी मिथ्यात्व में! साधक को प्रति समय की पर्याय, स्वाश्रय से जितनी शुद्ध उपादानरूप परिणमित हुई है, उतना मोक्ष का कारण है। शुद्धद्रव्य जो कि ध्रुवभावरूप है, वह मोक्ष का कारण नहीं होता तथा उस शुद्धद्रव्य से विमुख वर्तते भाव भी मोक्ष का कारण नहीं होते; शुद्धद्रव्य के सन्मुख वर्तते निर्मलभाव ही मोक्ष

का कारण होते हैं – ऐसा सिद्ध करने के लिए यहाँ पर्याय में कारण-कार्य बतलाया है, वरना तो उस-उस समय की पर्याय, शुद्धद्रव्य का अवलम्बन करके स्वयं शुद्धरूप प्रगट होती है। पूर्व पर्याय में से वह नहीं आती परन्तु पूर्व में इतनी शुद्धिपूर्वक ही पूर्ण शुद्धता होती है; इसलिए उसमें कारण-कार्यपना कहा है और उससे विरुद्ध भावों का निषेध किया है; इस प्रकार मोक्ष को साधने के लिए सच्चा कारण क्या है ? किस कारण से मोक्ष सधता है ? – वह बतलाया है।

त्रिकाली भावरूप ध्रुवद्रव्य यदि मोक्ष का कारण होवे तो मोक्षदशारूप कार्य भी सदा होना चाहिए क्योंकि द्रव्य तो सदा है परन्तु मोक्षमार्ग तो सदा नहीं है, वह तो नया प्रगट होता है; इसलिए उसका कारण, द्रव्य नहीं परन्तु पर्याय है। द्रव्य सदा शुद्ध है, उसका भान करके पर्याय ने जब उसका अवलम्बन लिया, तब वह पर्याय शुद्ध हुई और वही मोक्ष का कारण हुई; इस प्रकार द्रव्य-अंश और पर्याय-अंशरूप स्वतःसिद्ध वस्तु है, उसमें अभेदरूप से द्रव्य को भी शुद्ध का कारण कहते हैं क्योंकि पर्याय उसका अवलम्बन करके शुद्ध हुई है; उसे निमित्त का या राग का अवलम्बन नहीं है।

यह परमेश्वर के दरबार में प्रवेश करने की बात है। परमेश्वर के दरबार में प्रविष्ट हों, उसे कैसे भाव होते हैं ? उनकी यहाँ पहचान करायी है और वे भाव कैसे प्रगट होते हैं ? – यह भी बतलाया है। यह आत्मा स्वयं तीन लोक का नाथ चैतन्य परमेश्वर है, उसकी शक्ति में अनन्त परमात्मवैभव भरा है, उसमें से अनन्त सिद्धदशा प्रगट होने की सामर्थ्य है – ऐसे आत्मस्वभावरूप निज

परमात्मा के सन्मुख होने से, औपशमिक आदि तीन निर्मलभाव प्रगट होते हैं, वह मोक्ष का कारण है – ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार आत्मा के पाँच भावों में से मोक्ष का कारण बतलाया। अब, जो मोक्ष का कारण बतलाया, वह मोक्ष, शक्तिरूप है या व्यक्तिरूप है ? इस सम्बन्धी स्पष्टीकरण करते हैं।

जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो शुद्धपारिणामिक है, प्रथम से ही विद्यमान है, यह तो व्यक्तिरूप मोक्ष का विचार चल रहा है। आत्मा के पाँच भावों में तो अलौकिक स्पष्टता आ जाती है.... आत्मा में त्रिकाली द्रव्यस्वभाव, जो कि शक्तिरूप है, उसमें अशुद्धता नहीं है; वह तो सदा ही शुद्ध है, अर्थात् मुक्तस्वरूप ही है। वह पारणामिकभावरूप तो पहले से ऐसा ही है, उसमें कहीं नया करनापना नहीं है; नया कर्तव्य तो पर्याय में है, अर्थात् व्यक्तिरूप मोक्ष नया होता है, इसलिए कारण भी उस व्यक्तिरूप मोक्ष में होता है, शक्ति में कोई कारण नहीं है क्योंकि वह कार्यरूप नहीं है।

राग–द्वेष और कर्मबन्धन तथा उनके अभावरूप वीतरागता वह मोक्ष, पर्याय में होता है। शक्तिरूप मोक्ष, पारिणामिकभावरूप त्रिकाल है और व्यक्तिरूप मोक्ष, क्षायिकभाव से सादि–अनन्त है (यहाँ एक जीव की अपेक्षा से सादि–अनन्त समझना चाहिए)। शक्ति यदि स्वयं अशुद्ध हो तो आत्मा की शुद्धता कभी हो ही नहीं सकती। यदि पर्याय में भी अशुद्धता न हो तो उसका अभाव करके मोक्ष का उपाय करना नहीं रहता। पर्याय में अशुद्धता है और वह मिटाकर मोक्षदशा प्रगट करनी है, वह कैसे प्रगट हो ? कि द्रव्य में शक्तिरूप मोक्षस्वभाव विद्यमान है, उसका भान करने से पर्याय में वैसी मोक्षदशा व्यक्त होती है।

शक्ति, अर्थात् द्रव्य का मूलस्वभाव; और व्यक्ति, अर्थात् पर्याय। चार भाव व्यक्तिरूप है और पारिणामिकभाव शक्तिरूप है। वस्तु में तीनों काल परिणमन है परन्तु वह पर्याय अपेक्षा से है। बन्ध-मोक्ष सम्बन्धी कारण-कार्य पर्याय में है; द्रव्य में नहीं, और पर में भी नहीं। आत्मा के कौन से भाव, बन्ध-मोक्ष के कारण हैं? – यह समझे बिना किस भाव को छोड़ना और किस भाव का सेवन करना? – इसका पता नहीं पड़ता है। सत्य वीतरागमार्ग में भी तीन भाव, मोक्ष के कारण कहे गये हैं – ऐसा सत्य मार्ग जिसे समझ में भी न आवे, वह सत्य के मार्ग में गति किस प्रकार करेगा?

आत्मा का स्थायी स्वभाव और उसके आश्रय से होनेवाला मोक्षमार्ग समझाकर आचार्य भगवन्तों ने ज्ञान का खजाना खोल दिया है। हे भाई! ले... ले...! तेरा चैतन्य खजाना तू ले!! तेरे इस खजाने में कहाँ कमी है! अन्दर उतरकर उसमें से चाहिए उतना ले – सम्यग्दर्शन ले, सम्यग्ज्ञान ले, मुनिदशा ले, केवलज्ञान ले, और मोक्ष ले... सदा काल उसमें से पूर्ण ज्ञान और आनन्द लिया ही कर... तो भी तेरे खजाने में कमी आवे ऐसा नहीं है। तेरा आत्मा मोक्ष के खजाने से भरपूर है, 'तू है मोक्षस्वरूप' – ऐसे स्वभाव को अनुभव में लिया, वहाँ मोक्षदशा होने में क्या देरी! और वहाँ मोक्ष का सन्देह क्या! उसे तो स्वभाव में से मोक्षदशा होने की नि:शंक झंकार आ गयी... सम्यग्दर्शन होते ही मोक्ष के वाद्ययन्त्र बज गये... जिसने आत्मा में शक्तिरूप मोक्ष देखा, उसे व्यक्तिरूप मोक्ष हुए बिना नहीं रहता है।

देखो! यह अन्दर की बात है; अन्दर, अर्थात् यह अपने

स्वभाव की बात है। आत्मा का शुद्धस्वभाव ही अन्त:तत्त्व है, रागादिक तो बहिर्तत्त्व है और शरीर तो कहीं रह गया। रागादिक औदायिक भाव, वह औपशमिक आदि भाव का कारण नहीं है; बन्धभाव, वह मोक्षभाव का कारण नहीं है। यहाँ कहते हैं कि ऐसे बन्ध और मोक्ष, पर्याय में है; द्रव्य-अपेक्षा से देखो तो उसे बन्ध-मोक्ष नहीं है। जो बँधा ही न हो, उसे छूटना कैसे कहा जाए ? एक व्यक्ति जेल में बँधा हो और फिर छूटे, उसे तो यह कहा जाता है कि तुम छूटे.... तुम मुक्त हुए परन्तु जो कभी जेल के बन्धन में बँधा नहीं, उसे देखकर ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि तुम बन्धन में से छूटे ? वह तो छूटा हुआ ही था। उसी प्रकार पर्याय में जीव को बन्धन है – अशुद्धता है; अत: पर्याय में शुद्धता और मुक्ति होने पर पर्याय अपेक्षा से ऐसा कहा जा सकता है कि तुम बन्धन में से मुक्त हुए परन्तु द्रव्य तो कभी बँधा ही नहीं, इसलिए द्रव्य मुक्त हुआ – ऐसा नहीं कहते हैं; वह तो मुक्तस्वरूप ही है। जो बँधा हो, वह छूटेगा; जो बँधा ही नहीं, उसे छूटना भी नहीं। इसलिए आत्मद्रव्य में शक्तिरूप मोक्ष है और पर्याय में व्यक्तिरूप मोक्ष होता है – ऐसा द्रव्य-पर्याय का स्वरूप है।

शुद्धद्रव्य को देखनेवाली दृष्टि, अनन्त ज्ञान-आनन्द से भरपूर अपने मुक्तस्वरूप को ही देखती है; बन्धन और मोक्ष – ऐसे पर्यायभेद उसमें नहीं दिखते हैं। पारिणामिक परमस्वभाव जैसा सिद्ध का है, वैसा ही अभी प्रत्येक जीव में है; अन्तर है, वह पर्याय में है, उस पर्याय का लक्ष्य छोड़कर ध्रुव द्रव्यस्वभाव को देखने से आत्मा अबद्ध है-मुक्तस्वरूप है-शुद्ध है। पर्याय में मुक्तदशा प्रगट करने के लिए अपने ऐसे स्वभाव के सन्मुख हो.... !

सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान कला द्वारा तीन काल-तीन लोक को एक समय में जाना है और वाणी द्वारा वस्तुस्वरूप कहा गया है। उन्होंने शक्तिरूप से तो प्रत्येक जीव को मुक्तस्वरूप देखा है और पर्याय में मोक्ष होने के कारणरूप उपशमादि तीन भाव देखे हैं। उन भावों द्वारा व्यक्तिरूप मोक्ष नया होता है, शक्तिरूप मोक्ष त्रिकाल है।

पर्याय में मिथ्यात्व हो या सम्यक्त्व हो; बन्धन हो या मुक्ति हो परन्तु द्रव्यस्वभाव की सामर्थ्य तो समस्त दशाओं के समय मुक्तस्वरूप ही है, उसे बन्धन नहीं है, आवरण नहीं है, अशुद्धता नहीं है, अपूर्णता नहीं है – ऐसे निज स्वभाव का, अर्थात् भूतार्थ स्वभाव का भान करनेवाले को पर्याय में भी बन्धन मिटकर पूर्ण शुद्ध मोक्षदशा होने लगती है, इसका नाम धर्म है और यह मोक्षमार्ग है।

आत्मा, देह से भिन्न स्वतन्त्र वस्तु है। वह वस्तु अपने अनन्त स्वभावों से भरपूर है। उसमें एक द्रव्यस्वभाव, दूसरा पर्यायस्वभाव है। ध्रुवरूप द्रव्यस्वभाव में रागादि बन्धन नहीं होता और छूटना भी नहीं होता; वह तो स्वरूप से ही मुक्त है। दुःख और बन्धन तो अवस्था में है। उन्हें मिटाकर आनन्ददशारूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है और फिर पूर्ण आनन्ददशारूप मोक्ष अवस्था प्रगट होती है। ऐसी बन्ध-मोक्षरूप अवस्थाएँ भी आत्मा में होती हैं। बहुत से लोग अवस्था को मानते ही नहीं। अवस्था मानेंगे तो आत्मा अनित्य हो जाएगा – ऐसे भय के कारण एकान्त नित्यता ही मानते हैं। वस्तु के स्वरूप में अवस्था है, तथापि उसे नहीं मानते; इस कारण द्रव्य-पर्यायरूप सत् वस्तु जैसी है, वैसी यहाँ सन्तों ने प्रसिद्ध की है।

वस्तु में अवस्थायी द्रव्य तो त्रिकाल है और अवस्था वर्तमान मात्र है। त्रिकाल अवस्थायी द्रव्य तो मुक्तस्वरूप है और अवस्था

में रागादि की रुचि छोड़कर ज्ञानानन्दस्वरूप के सन्मुख होकर उसकी रुचि, श्रद्धा, स्वसंवेदन करने से निर्मलदशा हो, वह आत्मा की मुक्तदशारूप कार्य का कारण है। ध्रुव, कारण नहीं है क्योंकि ध्रुव में क्रिया नहीं है, पलटना नहीं है; पलटनेरूप क्रिया, पर्याय में है। पर्याय में विकार, वह संसार; उसका अभाव होकर पर्याय में शुद्धता का नाम मुक्ति; वह कहीं बाहर में नहीं और उसका कारण भी बाहर में नहीं है। एक आत्मवस्तु में यह सब समाहित होता है। ऐसी वस्तु का ज्ञान, वह सत् का ज्ञान है। सन्तों ने उसकी प्रसिद्धि की है।

आत्मवस्तु नजर में आ सके ऐसी है परन्तु स्वयं अपने में नजर नहीं करता; बाहर में नजर करता है, फिर अन्दर की वस्तु कैसे दिखायी दे? अन्दर में नजर करे तो दिखे न? एक वस्तु हो एक जगह और ढूँढे दूसरी जगह तो कहाँ से मिलेगी? जहाँ हो, वहाँ ढूँढे तो मिले; उसी प्रकार आत्मा को आत्मा में ढूँढे तो मिले परन्तु देह की क्रिया में या राग में वह नहीं मिलता।

प्रश्न – हम अन्दर आँख बन्द करके देखते हैं परन्तु आत्मा नहीं दिखता, अन्धकार दिखता है?

उत्तर – परन्तु भाई! बाहर की चक्षु बन्द करके अन्दर की ज्ञानचक्षु खोल, अर्थात् भावश्रुत चक्षु को अन्दर में झुका तो आत्मा दिखेगा। 'अन्धकार दिखता है' – तो उस अन्धकार को देखनेवाला कौन है? अन्धकार का दृष्टा स्वयं अन्धकाररूप नहीं है। अन्धकार को देखनेवाला तो अन्धकाररहित जागृत चैतन्यसत्तारूप है। अन्धकार, अन्धकार को नहीं जानता; जाननेवाला, अन्धकार को जानता है कि यह अन्धकार है परन्तु 'मैं अन्धकार हूँ' – ऐसा नहीं

जानता; 'मैं चैतन्य हूँ' इस प्रकार स्वयं अपने चैतन्यस्वभाव को देखे तो वह ज्ञात होवे ऐसा है। जो वस्तु 'है' और जिसका ज्ञान हो सकता है, उसका यह उपदेश है, अर्थात् सत्य प्ररूपणा है। पदार्थ सत् है, उसका यह कथन है और वैसा सत्, ज्ञात हो सकता है। सत् जैसा है, वैसा ज्ञान करने से मुक्तदशा प्रगट होती है, वह व्यक्तिरूप मोक्ष है और शक्तिरूप मोक्ष त्रिकाल द्रव्यरूप पारिणामिकभावरूप है।

इस प्रकार शक्तिरूप और व्यक्तिरूप मोक्ष की बात करके, अब द्रव्य और पर्याय में अथवा पाँच भावों में अक्रियपना और सक्रियपना किस प्रकार है, वह कहते हैं।

सिद्धान्त में कहा है कि **निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः** अर्थात् शुद्ध पारिणामिकभाव निष्क्रिय है। निष्क्रिय का क्या अर्थ है ? बन्ध के कारणभूत जो क्रिया (अर्थात् रागादि परिणति) उसरूप नहीं है और मोक्ष के कारणभूत जो क्रिया (अर्थात् शुद्धभावना-परिणति) उसरूप भी नहीं है – इस अपेक्षा से पारिणामिकभाव को निष्क्रिय कहा है।

क्रिया पर्याय की फेरनी – अर्थात् जिसमें उत्पाद-व्ययरूप परिणाम हो, अथवा बन्ध-मोक्ष का कारण हो, उसका नाम क्रिया है। अब, शुद्ध पारिणामिकभाव में तो उत्पाद-व्यय नहीं है अथवा बन्ध-मोक्ष के कारणरूप परिणमन उसमें नहीं है; इसलिए वह निष्क्रिय है। बन्ध का कारण हो, वह अशुद्धक्रिया है, मोक्ष का कारण हो, वह शुद्धक्रिया है; बन्ध के कारणरूप अशुद्धक्रिया, वह औदयिकभाव है; मोक्ष के कारणरूप क्रिया, वह औपशमिकादि तीन भावोंरूप हैं; और पारिणामिकभाव क्रियारहित है।

मोक्षमार्ग साधना, वह व्यवहार है और अक्रियरूप द्रव्य, वह

निश्चय है – ऐसा पण्डित बनारसीदासजी ने परमार्थवचनिका में कहा है; उसमें भी यही ध्वनि है।

निष्क्रिय शुद्ध पारिणामिक – यह सिद्धान्त वाक्य है – ऐसा यहाँ (टीका में) कहा है परन्तु यह सूत्र किसमें आता है – इसका उल्लेख नहीं है।

मोक्षमार्ग साधने में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्याय की शुद्धि के अनेक प्रकार पड़ते हैं, उन्हें व्यवहार कहा है और वह क्रियारूप है; द्रव्यस्वभाव सदा एकरूप रहनेवाला है, उसे निश्चय कहा है और वह अक्रिय है।

अध्यात्मशैली में रागादि को आत्मा के व्यवहाररूप से नहीं लिया है, परन्तु शुद्धपर्याय को ही व्यवहार कहा है। प्रवचनसार (गाथा ९४) में भी कहा है कि अज्ञानी, अविचलित चेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहार को नहीं जानते, वे आत्मा की सच्ची क्रिया को नहीं पहिचानते और देहादि की क्रिया को ही अपनी मानकर जड़-चेतन की मिलावट कर रहे हैं। चेतनाविलासरूप, अर्थात् औपशमिकादि भावरूप क्रिया, वह धर्मी का व्यवहार है। रागादि विकल्पों को आत्मा का सच्चा व्यवहार नहीं कहते हैं। धर्मी उसे नहीं साधते हैं; धर्मी तो निर्मलपर्यायरूप मोक्षमार्ग को साधते हैं; वही उनका व्यवहार है और वही उनकी क्रिया है।

बहुत-से लोग पूछते हैं कि आप व्यवहार और क्रिया को मानते हो?

हाँ, भाई! धर्मात्मा को मोक्षमार्ग का सच्चा व्यवहार और सच्ची

क्रिया होती है, उस व्यवहार को और उस क्रिया को हम धर्म मानते हैं परन्तु यह तेरा माना हुआ व्यवहार नहीं और तेरी मानी हुई क्रिया नहीं।

अज्ञानी तो शरीर की क्रिया को क्रिया मानता है और शुभराग को व्यवहार मानता है परन्तु इनमें से एक भी मोक्षमार्ग में नहीं है; एक भी धर्म नहीं है। शरीर की क्रिया तो जड़ है और राग तो विकार है; धर्मी उसे नहीं साधते हैं; उस क्रिया को अथवा उस राग को अपना नहीं मानते हैं। धर्मी तो चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से मोक्षमार्ग को साधते हैं। यह मोक्षमार्ग को साधनेरूप क्रिया ही धर्मी की क्रिया है और वही उसका व्यवहार है; त्रिकाल अक्रिय चिदानन्दस्वभावरूप द्रव्य, वह निश्चय है। धर्मी को ऐसे निश्चय -व्यवहार की अलौकिक सन्धि है। ऐसे निश्चय-व्यवहार को सम्यग्दृष्टि ही जानता है।

शुद्ध पारिणामिकभावरूप द्रव्य निष्क्रिय है। वह निष्क्रिय क्यों है ? क्योंकि वह बन्ध के कारणरूप नहीं है तथा मोक्ष के कारणरूप भी नहीं है। बन्ध-मोक्ष के परिणाम से रहित अपरिणामी है; अपरिणामी होने से निष्क्रिय है। वह सदा ही वीतराग-विज्ञानघन एकरूप है – ऐसे द्रव्यस्वभाव को पहचानने से पर्याय में धर्म क्रिया हो जाती है। 'पहचानना' – स्वयं ही धर्म क्रिया है। परसन्मुख ऐसी रागादि परिणति, वह बन्ध के कारणरूप क्रिया है और स्वसन्मुख शुद्धभावना परिणति, वह मोक्ष के कारणरूप क्रिया है। जितने अशुभभाव हैं या जितने शुभभाव हैं, वे सभी रागभाव, बन्धकारणरूप क्रिया में समाहित होते हैं, वे कोई मोक्ष की क्रिया में नहीं आते हैं। परसन्मुख के झुकाववाले भाव, मोक्ष का कारण कैसे हो सकते

हैं? वे तो औदयिकभाव की क्रिया है, बन्ध की क्रिया है – भले शुभ हो। भगवान आत्मा के स्वभाव में उसका कारकपना नहीं है।

यहाँ तो निर्मलपर्यायरूप क्रिया, जो कि मोक्ष का कारण है, वह भी ध्रुव में नहीं है। ध्रुवभाव में पलटनेरूप क्रिया ही नहीं है, इसलिए निर्मलपर्यायरूप क्रिया भी उसमें नहीं है – तो फिर रागादि बन्धभावों की क्रिया का कर्तृत्व उसमें कहाँ से होगा? उसका कर्तृत्व ध्रुव में तो नहीं और ध्रुवस्वभाव के सन्मुख झुकी हुई पर्याय में भी उस राग-क्रिया का कर्तृत्व नहीं है – ऐसी पर्यायरूप परिणमित आत्मा को अकर्ता और अभोक्ता कहा है। विकल्प उत्पन्न हो, उसका कारकपना शुद्धात्मा में नहीं है और वह विकल्प, आत्मा की शुद्धता का कारण नहीं है। इस प्रकार दोनों को भिन्न कर दिया है – ऐसा शुद्ध आत्मा, वह शुद्धनय का विषय है।

प्रमाण अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है कि जितने परिणाम हैं – शुद्ध या अशुद्ध.... वे सब उस वस्तु के आश्रय से हैं, दूसरी वस्तु के आश्रय से नहीं; इसलिए रागपरिणाम भी आत्मा के आश्रय से है क्योंकि वह आत्मा का परिणमन है; उसका कर्ता आत्मा है और वह आत्मा का भाव है। पाँचों भाव, जीवतत्त्व के हैं; इस प्रकार परद्रव्यों से आत्मा की भिन्नता समझाते हैं।

अब, आत्मा में भी शुद्ध-अशुद्धभावों के विभाग की बात चलती है। उसमें परसन्मुखता से हुए जितने विभावभाव हैं, वे सब पराश्रय से हुए कहे जाते हैं; वह शुद्ध आत्मा का तत्त्व नहीं है। अपने शुद्धस्वभाव की सन्मुखता से हुए भाव, वे आत्मा के आश्रय से हुए कहे जाते हैं और वह आत्मा का तत्त्व है, वह मोक्ष का

कारण है। ध्रुवदृष्टि से ध्रुवतत्त्वरूप पारिणामिकभाव को देखने पर उसमें बन्ध-मोक्ष के हेतुरूप क्रिया नहीं है; इसलिए उसे निष्क्रियभाव कहा जाता है। इस प्रकार द्रव्य-अपेक्षा से निष्क्रिय और पर्याय - अपेक्षा से सक्रिय – ऐसा आत्मा का स्वरूप है।

निष्क्रिय के भी अनेक अर्थ हैं – यहाँ बन्ध-मोक्ष की क्रिया जिसमें नहीं है अथवा जिसमें उत्पाद-व्ययरूप क्रिया नहीं है, उसे निष्क्रिय कहते हैं, अर्थात् ध्रुवद्रव्य को निष्क्रिय कहते हैं और पर्याय को सक्रिय कहते हैं। प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में जो अभेद अनुभूति हुई, उसे निष्क्रिय चिन्मात्रभाव कहा है, वह निर्मल पर्याय की बात है। भेद के विकल्परूप क्रिया छूट गयी और निर्विकल्प चैतन्य के अनुभव में उपयोग एकाग्र हुआ, वहाँ उसे निष्क्रिय चैतन्यभाव कहा है। उसमें स्वानुभूति की क्रिया तो है, उत्पाद-व्यय भी है और वह मोक्ष का कारण है परन्तु भेद के विकल्परूप क्रिया का उसमें अभाव होने से उसे निष्क्रिय कहा है। उसे ही यहाँ सक्रिय कहा और द्रव्य को निष्क्रिय कहा है। इसलिए जहाँ जो विवक्षा हो वह समझना चाहिए।

प्रश्न – वस्तु क्रियारहित होती है।

उत्तर – वस्तु निष्क्रिय और सक्रिय दोनों भावरूप है। पर्याय -अपेक्षा से उसमें सक्रियपना है और द्रव्य-अपेक्षा से निष्क्रियपना है। उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त वस्तु है, उसमें उत्पाद-व्यय, क्रियारूप है, परिणमनरूप है और ध्रुव है, वह अक्रिय है – अपरिणामी है। औदायिक आदि चार भाव सक्रिय है, पारिणामिकभाव अक्रिय है। द्रव्य कहो, ध्रुव कहो, पारिणामिकभाव कहो, या अक्रियभाव कहो, यह सब यहाँ एकार्थ सूचक है। पर्याय कहो, उत्पाद-व्यय कहो,

चार भाव कहो, या क्रिया कहो – यह सब एकार्थ है। ऐसे भावोंरूप आत्मवस्तु है।

आत्मवस्तु का जो पारिणामिकभाव है, वह औपशमिक आदि क्षणिकभावरूप नहीं, कथञ्चित भिन्न है, यह बात पूर्व में आ गयी है। ऐसे स्वभाव के भान से पर्याय में जो निर्मलभावोंरूप मोक्षमार्ग प्रगट हुआ, उसमें विकाररूप औदयिकभाव नहीं है। जीव के इन पाँचों भावों में कहीं पर की तो बात ही नहीं है, पर का तो उसमें सर्वथा अभाव है-अत्यन्त अभाव है। अपने ही अपने में द्रव्य पर्याय के युगल की बात है। द्रव्य में कौन-सा भाव लागू पड़ता है और पर्याय में कौन-से भाव लागू पड़ते हैं? मोक्ष का कारण कौन -से भाव हैं? किन भावों को सक्रिय कहते हैं और किस भाव को निष्क्रिय कहते हैं? कौन-सा भाव ध्यानरूप है अैर कौन सा भाव ध्येयरूप है – ऐसे बहुत स्पष्टीकरण करके आत्मा के भाव समझाये हैं।

जड़ की क्रियाएँ – बोलना, चलना, खाना, लिखना, पकाना, इत्यादि तो आत्मा में है ही नहीं; मिथ्यात्व-रागादिभावरूप विकार-क्रिया (भी) अज्ञानी करता है, धर्मी के ज्ञानस्वभाव में वह क्रिया (भी) नहीं है।

धर्मी के ज्ञानभावरूप क्रिया, जो कि मोक्ष की साधक है, वह क्रिया पर्याय में है, द्रव्य में वह नहीं है। 'ज्ञायकभाव एक है, वह प्रमत्त-अप्रमत्तरूप नहीं हुआ है' – ऐसे अक्रिय ज्ञायकस्वभाव को जब स्वानुभूतिरूप क्रिया द्वारा अनुभव में लिया, अर्थात् पर से भिन्नरूप उपासित किया, तब उसे 'शुद्ध आत्मा' कहा। उस शुद्धभावरूप परिणमित हुआ, वह मोक्षमार्ग है। शुद्धद्रव्य और

शुद्धपर्याय – दोनों की बात इसमें आ गयी। शुद्धद्रव्य के सन्मुख जो पर्याय झुकी, वह शुद्ध ही है – ऐसा वस्तु का स्वभाव है। अलौकिक शैली से अन्तर का वस्तुस्वभाव सन्तों ने समझाया है।

वाह रे वाह! वनवासी वीतरागी दिगम्बर सन्तों! आपकी वाणी ने वीतराग मार्ग के रहस्य खोलकर महान उपकार किया है।

मिथ्यात्व से लेकर योग के कम्पन्न तक के सभी भाव औदायिकभावरूप क्रिया है। सम्यक्त्व से लेकर अयोगदशा तक के भाव, क्षायिक आदि भावरूप क्रिया है, वह मोक्ष का कारण है और सिद्धदशा भी क्रियारूप है। उसमें क्षायिकभावरूप उत्पाद-व्ययरूप क्रिया है। ऐसी क्रियारूप पर्यायें, पर्यायनय का विषय है। द्रव्य एकरूप निष्क्रिय पारिणामिकभावरूप बन्ध-मोक्षरहित है, वह द्रव्यनय का विषय है। निर्मल चेतना पर्याय, वह आत्मा का सच्चा व्यवहार है, वह सच्ची क्रिया है; वह क्रिया ही मोक्ष की क्रिया है। उस क्रिया में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र समाहित होते हैं। राग का या जड़ की क्रिया का उसमें अभाव है और शुभक्रियाएँ मोक्ष के कारण में नहीं आती हैं।

देखो, यह तो वीतराग शासन के स्याद्वाद की मीठी लहर है। स्याद्वाद अनुसार होनेवाले भावश्रुतज्ञान में अतीन्द्रिय आनन्द की लहर उठती है। जैसे, समुद्र अपने ही अपने में उछलता है; उसी प्रकार यह अपने ही अपने में – द्रव्य और पर्याय के बीच ही सारी क्रीड़ा है; इससे बाहर की तो बात ही नहीं है। तेरा कार्य-कारणपना तेरी पर्याय में ही समाहित होता है; इसीलिए बाहर देखने की आवश्यकता नहीं है। तेरे अखण्ड आत्मा को ध्येयरूप बना, वही मोक्ष का उपाय है।

देखो, यह मोक्ष की क्रिया की बात चलती है। एक ओर मोक्ष की क्रिया तो एक ओर अक्रिय द्रव्यस्वभाव – दोनों एक साथ ही हैं। मोक्ष के कारणरूप क्रिया, अर्थात् शुद्धभावनापरिणति। वह क्रिया किसमें होती है ? क्या द्रव्य में होती है ? नहीं; तो क्या पर में होती है ? नहीं; तो कहाँ होती है ? वह क्रिया आत्मा की पर्याय में होती है। 'भावना' पर्यायरूप है। वह भावना किसे भाती है ? अक्रिय ध्रुवस्वभाव को भाती है। स्वभावसन्मुख हुई आत्मा की पर्याय, वह भावना और वही मोक्ष की क्रिया है। वही अविचलित चेतनाविलासरूप धर्मी का व्यवहार है। मोक्षमार्ग में ऐसा व्यवहार है; इससे विरुद्ध व्यवहार, मोक्षमार्ग में नहीं है; वह तो बन्धमार्ग में है।

जिस जीव को अपने भाव में बन्ध-मोक्ष के कारण का भी पता नहीं है, वह अज्ञान से बन्ध के कारण को, अर्थात् राग को सेवन करता है और यह समझता है कि मैं मोक्ष का साधन करता हूँ। बापू! ऐसे आत्मा के ज्ञान बिना मोक्षमार्ग तेरे हाथ में नहीं आयेगा। मोक्षमार्ग तो आत्मसन्मुख परिणाम है, वह कहीं रागरूप नहीं है; वह तो रागरहित औपशमिक आदि भावरूप है। स्वसन्मुख -परिणाम, शुद्धोपयोग, भावश्रुतज्ञान, धर्मध्यान, परमार्थ तत्त्व की भावना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र – ये सभी रागरहित ही हैं। पर्याय को राग से पृथक् अन्तर्मुख करके शुद्धात्मा को ध्याने से निर्विकल्प आनन्दसहित जो अपूर्व दशा होती है, उसमें ऊपर के समस्त बोल समाहित हो जाते हैं। वह पर्याय स्वयं पर्याय को नहीं ध्याती; अन्तर्मुख अभेद होकर अखण्ड आत्मा को ध्याती है।

ध्यान पर्याय स्वयं उत्पन्न-ध्वंसी होने पर भी, उसका ध्येय

विनश्वर नहीं है, अर्थात् वह अविनश्वर शुद्ध ध्रुवधाम का अवलम्बन करके ऐसी की ऐसी निर्मल – निर्मल पर्यायें नयी-नयी हुआ करती है। इस प्रकार वस्तु में ध्रुव-स्थायी अंश और दूसरा पलटता अंश, दोनों एक साथ हैं। द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु है, उसमें क्रियारूप पर्याय अंश है; द्रव्य अंश क्रियारूप नहीं, वह अक्रिय है।

पाँच भावों में द्रव्य और पर्याय दोनों आ जाते हैं। वस्तु में दो बात है; दो में से एक को निकाल दो तो वस्तु ही सिद्ध नहीं होती। 'यह वस्तु है' – ऐसा निर्णय, अवस्था के द्वारा होता है। ध्रुव एकरूप है, वह कार्यरूप नहीं है; कार्य तो अवस्था द्वारा होता है, अवस्था के बिना द्रव्य का स्वीकार करेगा कौन? द्रव्य तो निष्क्रिय है। निष्क्रिय अर्थात् क्या? रागादि परिणति, वह बन्ध की क्रिया; वीतरागपरिणति वह मोक्ष की क्रिया – ऐसे बन्ध-मोक्ष की क्रियारूप, पारिणामिक भाव नहीं है; इसलिए वह निष्क्रिय है। ऐसे परमतत्त्व की भावना द्वारा, अर्थात् उसकी सन्मुखता द्वारा शुद्धभाव प्रगट होता है। जिसे ऐसे परम अक्रियतत्त्व की भावना नहीं है, वही राग-द्वेष का कर्ता होता है और बन्ध के कारणरूप रागादि क्रिया को मोक्ष का कारण मानता है। वह जीव की पर्याय के भावों को भी पहचानता नहीं है और द्रव्य के स्वभाव को भी नहीं पहचानता है।

यदि ध्रुवस्वभाव में राग हो, तब तो सम्पूर्ण आत्मा ही रागरूप हो जाएगा; राग के अतिरिक्त कुछ अस्तित्व ही नहीं रहेगा परन्तु ध्रुव में राग नहीं है; राग तो पर्याय का क्षणिकभाव है, वह कहीं अनादि-अनन्त भाव नहीं है, वह तो सादि-सान्त है और ध्रुवस्वभाव अनादि-अनन्त है। जितने रागादि भाव हैं, वे बन्ध के कारण हैं, वे

आत्मा का स्वभावभूत नहीं हैं। बन्ध-मोक्ष का कारण, बाहर में नहीं है और अपने ध्रुव में भी नहीं है, अन्दर अपनी पर्याय में ही है।

जो लोग अन्दर के सूक्ष्म भावों को नहीं पहचानते हैं, वे बाहर की क्रिया द्वारा बन्ध-मोक्ष मानकर उसके कर्ता होते हैं। भगवान महावीर ने अथवा भगवान ऋषभदेव ने मुनिदशा में अन्दर की अनुभवदशा के आनन्द का वेदन करते-करते चैतन्य के प्रतपनरूप तप किया था, वहाँ आहार की इच्छा सहज ही टूट गयी, वहाँ भगवान की अन्तरदशा को नहीं देखनेवाले जीवों ने तो आहार नहीं आने को ही तप मान लिया और इस प्रकार स्वयं भी अनाज न खाने में तप मान लिया।

जैसे एक बहिन चावल कूट रही थी, उसमें दाना कसदार होने से ऊपर नहीं दिखता था, ऊपर तो छिलका दिखता था। उसे देखकर 'यह बहिन छिलके कूट रही है' – ऐसा समझकर एक मूर्ख महिला, घर जाकर छिलके का ढेर कूटने बैठ गयी परन्तु छिलके कूटने से कहीं चावल निकलते हैं? उसी प्रकार बाह्य दृष्टिवाले अज्ञानी भी जड़ की बाह्य क्रियाओं को धर्म मानकर छिलके कूटने जैसा कार्य करते हैं; कसदार अन्दर की वस्तु को वे नहीं देखते। भगवान के अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का जो वेदन था और जो राग के कर्तृत्वरहित ज्ञानभाव था, वह अज्ञानी ने नहीं देखा; उसका मार्ग देखा नहीं और बाहर में अनाज नहीं खाया; इसलिए हम भी भगवान जैसा तप करते हैं – ऐसा मान लिया। अरे कहाँ भगवान का तप और कहाँ तेरा भ्रम! तू तो तप के नाम से जड़-चेतन की एकताबुद्धि का मिथ्यात्व सेवन कर रहा है, तब फिर तप कैसा? चैतन्य के भान बिना तुझे पता नहीं पड़ता कि

भगवान ने तप में क्या किया था ? भाई ! तेरा तप या तेरा मोक्ष का साधन बाहर में नहीं है।

चिदानन्दस्वभाव के सन्मुख परिणति एकाग्र होती है, उसमें सम्यक् तप इत्यादि मोक्षमार्ग के सभी बोल समाहित हो जाते हैं। काँच खण्ड को कोई नीलम मान ले, इससे कहीं उसकी कीमत नीलम जितनी नहीं हो जाती; उसी प्रकार शुभविकल्प को-पुण्य को-बन्धभाव को कोई धर्म या मोक्षमार्ग मान ले, इससे कहीं मोक्षमार्ग उसके हाथ में नहीं आ जाता है। धर्म तो आत्मा का अपूर्व भाव है, एक समय भी धर्म का सेवन करे तो वह जीव मुक्त परमात्मा हुए बिना नहीं रहता है। दूज उगी तो बढ़कर पूर्णिमा होगी ही.... उसी प्रकार शुद्धस्वभाव के अवलम्बन से जिसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप चेतन-दूज उगी, उसे अल्प काल में ही केवलज्ञानरूपी पूर्ण चन्द्रमा उगेगा ही – ऐसी पवित्र अरागीदशा, वह शुद्धभावना है और रागरहित है। वह चैतन्यस्वभाव का ही अवलम्बन करनेवाली है, वह धर्म और मोक्ष का कारण है।

ध्रुव चिदानन्द परम स्वभाव में दृष्टि करने से क्या होगा ? परमात्मदशा प्रगट होगी। उस स्वभाव को नहीं देखनेवाले को रागादि विकार के कर्तृत्वरूप अज्ञानदशा ही रहेगी। सुलटी या उलटी चैतन्य की क्रीड़ा चैतन्य में है। जड़ वस्तुएँ, जड़रूप रही हैं, वे तेरी होकर नहीं रही, तुझमें नहीं आयी हैं। जगत् की चीजें जगत् में हैं, वे तुझमें नहीं हैं, तथापि मैं उन्हें रखता हूँ, मैं उनका कुछ करता हूँ, उनमें से मैं सुख प्राप्त करूँ – ऐसा मानता है, तो वह तो तेरी मूढ़ता है। यहाँ अपने में दो पहलू जानकर, शुद्धस्वभाव के सन्मुख झुकने की बात है। जहाँ अपनी पर्याय के भेदों का भी

लक्ष्य छुड़ाते हैं, वहाँ परद्रव्य की तो बात ही कहाँ रही? ऐसे अपने स्वभाव को जानकर स्वसन्मुख हो। भाई! सुख का भण्डार तो उसमें है।

भाई! यह वस्तु तो गम्भीर है। वाणी में तो कितना आवे? अमुक संकेत आते हैं, वरना तो श्रोता को स्वयं अन्दर की गम्भीरता भासित हो और अन्तर के विचार में वस्तु को पकड़ ले, तब उसका भाव उल्लसित होता है, अपूर्व भावभासन होता है और अन्तर में उतरकर अनुभव कर लेता है। ऐसा अनुभव करनेवाले जीव अभी हैं और ऐसा अनुभव हो सकता है, यह स्वानुभव में लेने योग्य बात है।

कहाँ जाना और कहाँ स्थिर होना? तो कहते हैं कि कहीं नहीं जाना, तू अपने में ही रह; तेरे ध्रुवस्वभाव को ध्येय बनाने से तुझे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष-कारण प्रगट होगा, तेरा सुख तुझे अनुभव में आयेगा; सुख के लिए तुझे कहीं अन्यत्र नजर नहीं डालना पड़ेगी। तेरी वस्तु, द्रव्य और पर्याय – ऐसे दो भाववाली है। सामान्यरूप ध्रुव, वह द्रव्य है और विशेषरूप क्रिया, वह पर्याय है। उसमें ध्रुव का आश्रय करके होनेवाली जो क्रिया, वह मोक्ष की क्रिया है। 'पूर्णानन्दी चैतन्यस्वभावी आत्मा मैं हूँ' – ऐसी स्वानुभूतिरूप भावना, वह क्रिया है, और ध्रुव तो अक्रिय है – ऐसा द्रव्य-पर्यायरूप वस्तुस्वरूप है; इस प्रकार सत् वस्तु को न पहचाने और दूसरे प्रकार से गड़बड़ करके धर्म करना चाहे तो वह जीव सुलटे मार्ग पर नहीं परन्तु असत् मार्ग में है, उसे धर्म नहीं होता। धर्म के लिए तो अन्तर्मुख होकर स्वयं में ही स्थिर होना है, अन्यत्र कहीं जाना नहीं है।

जो धर्म करना चाहता है, वह जीव 'कुछ करना चाहता है' – उसका अर्थ यह हुआ कि उसकी प्रवर्तमान वर्तमान दशा में उसे सन्तोष नहीं है; इसलिए उसे बदलकर, उससे अलग प्रकार की नयी दशा करना चाहता है; उसमें स्वयं कायम रहना चाहता है, अर्थात् बदलना और कायम रहना दोनों धर्म इसमें आ गये हैं.... तो स्वयं में कायम, वह क्या ? और बदले, वह क्या ? इस प्रकार अपने द्रव्य–पर्याय को पहचानना चाहिए, तभी पर्याय में सम्यक् परिवर्तन / परिणमन होकर मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

अपने गुण–पर्यायरूप अस्तित्व में वर्तते चेतनस्वरूप आत्मा में जड़ की क्रिया कभी नहीं है। उसके ज्ञान में जड़ की अवस्था ज्ञेयरूप ज्ञात अवश्य होती है परन्तु वह जड़ की क्रिया, जड़रूप से सत् और ज्ञान, ज्ञानरूप से सत् है; इस प्रकार जड़ से तो भिन्नता है।

अब, जो रागादिभाव होते हैं, वे आत्मा की पर्याय में हैं परन्तु ज्ञानस्वरूप से उनकी जाति अलग है। ज्ञानस्वरूप के आश्रय से उनकी उत्पत्ति नहीं होती है, अर्थात् ज्ञानस्वरूप, उस राग से भी भिन्न है।

अब ऐसा भेदज्ञान करके शुद्ध चैतन्यस्वरूप के सन्मुख परिणति होने पर सम्यक्त्वादि निर्मल पर्यायें प्रगट हुईं – वहाँ पर्याय नयी प्रगट होती है, सम्पूर्ण वस्तु नयी नहीं प्रगट होती। वस्तु का ध्रुव अंश तो पहले से शुद्ध था, पर्याय शुद्ध हुई, वह मोक्षमार्ग है। उसमें पर्याय नहीं थी और हुई, इसलिए इस अपेक्षा से वस्तु क्रियारूप है और ध्रुवरूप से द्रव्य तो कहीं नया नहीं होता है; इसलिए उसकी अपेक्षा से वस्तु अक्रिय है – ऐसे दोनों धर्म, वस्तु में एक साथ हैं।

रागरहित निर्मल अवस्थारूप जो क्रिया है, वही आत्मा की सच्ची क्रिया है, वही धर्म की क्रिया है।

* स्वसन्मुख होने पर, 'मैं चिदानन्दस्वभाव हूँ' – ऐसी श्रद्धा हुई, वह सम्यक्त्व की क्रिया हुई।

* स्वसन्मुख होकर 'मैं चिदानन्दस्वभाव हूँ' – ऐसा जाना, वह सम्यग्ज्ञान की क्रिया हुई।

* स्वसन्मुख एकाग्र होकर लीन हुआ, वह सम्यक्चारित्र की क्रिया हुई।

* स्वसन्मुख एकाग्र होने पर आनन्द का अनुभव हुआ, वह आनन्द की क्रिया हुई।

– इस प्रकार आत्मा के अभेदस्वभाव के वेदन में अनन्त गुणों की क्रिया एकसाथ समाहित होती है; राग की क्रिया या जड़ की क्रिया उसमें नहीं है। भाई! यह तेरे आत्मा की क्रिया कही जाती है। यही धर्म की क्रिया है, यही मोक्ष की सच्ची क्रिया है। मोक्ष के लिए क्रिया नहीं है – ऐसा नहीं है; क्रिया तो है परन्तु वह शुद्ध भावना परिणतिरूप है, रागरूप नहीं। सादा भोजन करे, सादगी से रहे, लौकिक अनीति न करे और न्याय-नीति से रहे, इतने मात्र से कहीं सम्यक्चारित्र या धर्म की क्रिया नहीं हो जाती है, यह तो सामान्य शुभराग है।

बापू! राग को मोक्षमार्ग मानने से बड़ी अनीति और अधर्म हो जाता है। उसका जीवन तो रागवाला जीवन है। भले बाहर में सादगी दिखायी दे परन्तु उसे सादा जीवन, अर्थात् धर्मजीवन नहीं कहते हैं। सादा जीवन, अर्थात् रागरहित जीवन.... वीतरागभावरूप

जीवन, वही सच्चा जीवन है... और वही साधु जीवन है। साधु जीवन ही सादा जीवन... 'जीना जाना नेमनाथ ने जीवन.... तेरा जीवन वास्तविक तेरा जीवन....' समस्त धर्मात्मा, अपने चिदानन्द स्वभाव के सन्मुख होकर ऐसा रागरहित जीवन जीते हैं, वही सुखी जीवन है। बाहर के संयोग द्वारा आत्मा को जीवित मानना तो पराधीन जीवन है, वह तो भावमरण है, दुःखी जीवन है।

अरे जीव! तुझे तेरा जीवन जीना भी नहीं आता! तेरा रागरहित चैतन्य जीवन कैसा है – उसे तो पहचान! निजस्वरूप को भूलकर प्रतिक्षण भावमरण हो रहा है, उसमें से आत्मा को उभार! निजस्वरूप को पहचान कर अरागी शान्तदशामय जीवन जी – यह जीवन, मोक्ष का साधक है।

आत्मा का मूलस्वरूप ध्रुव भी है और पलटता भी है। ऐसे अपने मूलतत्त्व को जाने बिना दूसरे जानपने की चाहे जितनी बातें करे, वे सब साररहित हैं, उनमें आत्मा का पता लगे – ऐसा नहीं है। आत्मा तो बाल-गोपाल सबमें विराजमान है – ऐसे निजघर की यह बात है परन्तु वह स्वयं अपने को भूल गया है, निजघर में भरे हुए अपार चैतन्य-वैभव की महिमा भूलकर बाहर में भटकता है। अपनी जो सहज महिमा स्वयं में है, उसे नहीं जानता; इसलिए बाहर में दूसरों के द्वारा मेरी महिमा होवे तो ठीक पड़े – ऐसा मानता है। अरे कैसा भ्रम!

बापू! बाहर में दूसरे निन्दा के शब्द बोलें या प्रशंसा के शब्द बोलें, उनमें कहाँ तू है? और वे शब्द कहाँ तुझमें आ जाते हैं? शरीर में भी तू नहीं और राग में भी वास्तव में तू नहीं है। चैतन्यस्वभाव से भरपूर जो ध्रुवभाव और उसके सन्मुख हुआ पर्यायभाव –

उसमें तू है। वस्तु अपने गुण-पर्याय में बसती है, बाहर में नहीं रहती है। अन्तर में ऐसी तेरी वस्तु सत् है, उसे तू जान! शरीर में आँख तो पुद्गल की रचना; कान, पुद्गल की रचना; रसना, नाक (आदि सब) पुद्गल की रचना, हाथ-पैर पुद्गल की रचना है। इस पुद्गल के पिण्ड में कहाँ आत्मा आ गया है ? वह तो पुद्गल से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप में ही रहा है।

अरे भगवान! तुझमें मोक्ष के कारणरूप जो निर्मलपरिणाम होता है, उस परिणाम जितना ही जहाँ तेरा पूरा द्रव्य नहीं; तब जड़ के परिणाम को तू कहाँ लगा ? आहा...हा... ! देखो तो सही, कैसी वस्तु सिद्ध करते हैं ! वस्तु में पर्याय और द्रव्य दोनों साथ ही साथ सिद्ध किये हैं। जो वस्तु में पर्याय को बिल्कुल नहीं मानते, उनके सामने उत्पाद-व्ययरूप पर्याय सिद्ध की है और जो ध्रुव को बिल्कुल नहीं मानते, उनके समक्ष ध्रुवतत्त्व सिद्ध किया है। ध्रुव और पर्याय, ये दो होकर वस्तु है। जैनधर्म के अनेकान्त की बलहारी है, उसका ज्ञान करने पर सच्ची दृष्टि होती है और ज्ञानचक्षु खुलते हैं।

आत्मवस्तु के पाँच भाव, उनमें निष्क्रियभाव और क्रियारूप भाव किस प्रकार से हैं ? यह समझाया; अब उसमें ध्येयरूप कौन हैं ? यह बतलाते हैं।

आत्मा को शुद्धभाव की अपेक्षा से देखने पर वह अक्रिय है और चार भावों की अपेक्षा से वह सक्रिय है, यह बात करके, अब कहते हैं कि –

शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप है परन्तु ध्यानरूप नहीं,

किसलिये ? क्योंकि ध्यान विनश्वर है और शुद्धपारिणामिक भाव तो अविनाशी है।

क्रिया और निष्क्रिय; ध्यान और ध्येय – ऐसी अलग-अलग शैली से वस्तुस्वरूप समझाते हैं। शुद्ध चैतन्यरूप पारिणामिकभाव ध्येयरूप है और उसमें उपयोग की एकाग्रता, वह ध्यान है। यह ध्यान, पर्याय है, औपशमिकादिभावरूप है और वह बदल जाती है; इस कारण वह पर्याय स्वयं ध्येयरूप नहीं है; ध्येयरूप त्रिकाल स्थिर – ऐसा ध्रुवद्रव्य है। उस ध्रुव-ध्येय में तन्मय होकर धर्मी उसका ध्यान करता है। यद्यपि ध्यानदशा के समय तो 'यह ध्येय और यह ध्याता' – ऐसा भेद नहीं रहता है।

मोक्षमार्ग को ध्यानरूप कहो, भावनारूप कहो, क्रियारूप कहो, तीन भावरूप परिणति कहो – वह पर्याय है; और पारिणामिक -स्वभावरूप ध्रुवद्रव्य है, वह भावनारूप नहीं है, क्रियारूप नहीं है, परन्तु अक्रिय है; ध्यानरूप नहीं, अपितु ध्येयरूप है। ध्यान पर्याय बदलती रहती है परन्तु ध्येय तो ऐसा का ऐसा रहता है। ध्येय को अभेद होकर ध्याने से उस ध्यान में परम आनन्द की धारा बहती है। ध्यान पर्याय अभेद होकर निर्विकल्परूप से ध्येयरूप परमस्वभाव को ध्याती है। उसे ध्या-ध्याकर पर्याय पुष्ट होती है।

ध्येयरूप परम पारिणामिकस्वभाव और उसे ध्यानेवाली पर्यायरूप औपशमिकादि भाव – ये दोनों रागरहित हैं। जितना राग है – फिर भले वह अशुभ हो या शुभ – वह हिंसा है; उस राग से रहित जो शुद्धभाव है, वह परम अहिंसा है – यह जैन उपदेश का रहस्य है – ऐसा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है।

राग तो उदयभाव है – कर्म की तरफ का भाव है; वह कहीं स्वभाव की तरफ का भाव नहीं है, इसलिए वह मोक्षमार्ग नहीं है। ध्यानपर्याय, रागरहित निर्मलभावरूप है और वह मोक्ष का कारण है परन्तु सिद्ध को ध्यानपर्याय का अभाव है। इस प्रकार ध्यानपर्याय, विनश्वर है और ध्येयरूप परमस्वभाव, अविनश्वर है। तेरी वस्तु में ध्रुवता क्या? और पलटना क्या? – इन दोनों को पहचान; और ध्रुवस्वभाव में उपयोग को स्थिर करके उसे ध्या!

आत्मा के भाव आत्मा में हैं, पर के कारण नहीं। उसमें बन्ध–मोक्ष के कारण से रहित होने से, पहले जिसे निष्क्रिय कहा था, उस पारिणामिकभाव को यहाँ ध्येयरूप कहा है, वह ध्यानरूप नहीं है; ध्यानपर्याय (तो) नाश को प्राप्त होती है परन्तु ध्येय, नष्ट नहीं होता; इसलिए ध्येय और ध्यान सर्वथा एक नहीं है, कथंचित् भिन्न है। ऐसा शुद्धात्मपरिणतिरूप ध्यान, वह मोक्षमार्ग है। भले ही शुक्लध्यान होवे तो भी वह उत्पन्नध्वंसी है परन्तु उस ध्यानपर्याय का नाश होने से कहीं द्रव्य का नाश नहीं होता है। इस प्रकार ध्यानपर्याय, विशेष और ध्येयरूप द्रव्य, सामान्य है – ऐसे सामान्य–विशेषरूप वस्तु है।

वस्तु अपने सामान्य–विशेष से बाहर पर में तो कुछ करती या भोगती नहीं है। जैन में परद्रव्य का कर्तृत्व नहीं है, अर्थात् भगवान द्वारा देखे हुए वस्तुस्वरूप में वह (पर का कर्तृत्व) नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करे या पुण्य से धर्म हो – यह बात जैनशासन की मर्यादा के बाहर है। द्रव्य–पर्यायस्वरूप वस्तु को यदि द्रव्यरूप से देखो तो वह उत्पन्न नहीं होती, विनष्ट नहीं होती और पर्यायरूप से देखो तो उसमें उपजना–विनशना है।

परमात्मप्रकाश, गाथा-६८ में श्री योगीन्द्रदेव ने कहा है कि –

ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थें जोइया जिणवरु एउँ भणेइ॥ ६८॥

परमार्थ से, अर्थात् शुद्धनिश्चयनय से विचार करने पर जीव न तो उत्पन्न होता है या न तो मरता है; तथा बन्ध-मोक्ष को भी नहीं करता है – ऐसा जिनवर देव कहते हैं।

यद्यपि शुद्धात्मानुभूति के अभाव में अज्ञानी जीव, शुभाशुभ का कर्ता होता है; इसलिए बन्ध का कर्ता होता है तथा शुद्धात्म -अनुभूति द्वारा ज्ञानी जीव, मोक्ष का कर्ता होता है; इस प्रकार पर्याय में जीव, बन्ध-मोक्ष को करता है परन्तु परमभावग्राहक ऐसे शुद्धनय से देखने पर आत्मा एकरूप पारिणामिकस्वभाव है, वह बन्ध-मोक्ष को नहीं करता। जो बँधा हुआ हो, वह छूटता है परन्तु जिसे कभी बन्धन ही नहीं, उसे छूटना भी कहाँ है? पर्याय में बन्धन है और पर्याय में मुक्ति होती है; उस मुक्ति का उपाय भी पर्याय में है।

जिस प्रकार एक मनुष्य साँकल से बँधा हुआ हो और फिर छूटे; तथा दूसरा एक मनुष्य कभी बँधा नहीं हो, पहले से ही छूटा हुआ हो; वहाँ पहले पुरुष को यह कहना कि 'तुम छूटे' – यह तो ठीक है परन्तु जिसे कभी बन्धन था ही नहीं – ऐसे दूसरे पुरुष से यह कहना कि 'भाई! तुम जेल से छूटे – यह अच्छा हुआ' – तो यह उचित नहीं है। भाई! मैं जेल में था ही नहीं, फिर छूटने की बात कैसी? उसी प्रकार जीव को पर्याय में बन्धन है और पर्याय में मुक्ति है, परन्तु शुद्धद्रव्यरूप पारिणामिकभाव में तो बन्धन या

मुक्ति होना नहीं है। ऐसे आत्मस्वभाव को पहिचाननेवाले को ही मोक्ष का सच्चा प्रयत्न प्रगट होता है। वीतराग निर्विकल्प समाधि में अपना ऐसा सिद्धसमान आत्मा ही उपादेय है। उसे उपादेय करके ध्यान से सिद्धपद प्रगट होता है।

देहादि के संयोगरूप जीवन और उनके वियोगरूप मरण तो आत्मा को नहीं है; पर्याय में जो उत्पत्ति-विनाश है, वह भी ध्रुवस्वभाव को नहीं है। दस प्राण से जीवे, वह 'सच्चा जीव' नहीं है; सच्चा जीव तो त्रिकाल चैतन्यप्राणरूप जीवित है। वह जीव 'परिणामस्वभावी' है, इसलिए वह परिणामरूप होता अवश्य है.... परन्तु परिणाम, पर्यायनय का विषय है; द्रव्यार्थिकनय तो एकरूप द्रव्य को देखता है, उसमें बन्ध-मोक्ष परिणाम नहीं आते हैं; उसमें तो अकेला पारिणामिक परमभाव आता है। वह पारिणामिक भाव, बन्ध-मोक्षपर्याय के साथ सर्वथा तन्मय नहीं है क्योंकि वह तो द्रव्यरूप है। द्रव्य का द्रव्यसत्तारूप सदा होना – इसका नाम 'द्रव्य का आत्मलाभ' है और ऐसे **द्रव्यात्मलाभ हेतुक** पारिणामिकभाव है।

आत्मा का स्वभाव सूक्ष्म है, अतीन्द्रिय है, इसलिए आँख से तो नहीं दिखता, विकल्प से तो ज्ञात नहीं होता; अन्तर्मुख जिस पर्याय से ज्ञात होता है, वह पर्याय उसका एक अंश है और अखण्ड द्रव्य त्रिकाल पूर्ण शुद्ध है। उस शुद्धस्वरूप के सन्मुख हुई परिणति, विकल्परूप नहीं होती। अब, जो निर्मलपरिणति हुई, उसकी कर्ता पर्याय है, द्रव्य नहीं। परिणाम और परिणामी को अभेदरूप से कहने पर, परिणमे वह कर्ता – ऐसा कहा जाता है परन्तु द्रव्य स्वयं पर्यायरूप नहीं हो जाता है। द्रव्य में तो बन्ध-मोक्ष से निरपेक्षपना

है, अनादि-अनन्त एकरूपपना है – ऐसे स्वभाव के सन्मुख होने पर मोक्षमार्ग होता है।

अहा! जहाँ द्रव्य और पर्याय का ऐसा स्वरूप अपने में है, वहाँ जगत् में दूसरे के सामने क्या देखना? दूसरे की क्या चिन्ता? ऐसे आत्मस्वभाव को पर का कर्ता कहना, या शब्दरूप परिणमित होनेवाला कहना तो विपरीतता है। राग का कर्तृत्व अज्ञान में है, ज्ञान में नहीं। ज्ञानी को मोक्षमार्गरूप निर्मलपर्याय का कर्तृत्व है परन्तु वह पर्याय, व्यवहारनय का विषय है; शुद्धनय का नहीं। शुद्धनय तो आत्मा को परमस्वभावरूप ही देखता है।

परमस्वभावी आत्मा अमृतरस का कुण्ड है; उस अमृत के अनुभव द्वारा अमर होने की यह बात है। अमर ऐसा सिद्धपद प्राप्त करने के लिए अखण्ड चैतन्यस्वभाव को ध्यान में ध्येयरूप बनाना। वह ध्येय सदा आनन्द से भरपूर है, उसे ध्याने से आनन्द का वेदन होता है – ऐसे स्व ध्येय को भूले हुए जीव, विकार को ही अनुभव करते हुए दु:खी होते हैं; उस दु:ख से मुक्त होने के लिए यह उपदेश है। दु:ख से छूटकर तुझे शान्ति प्रगट करनी हो तो जिसमें कभी दु:ख का प्रवेश नहीं – ऐसे तेरे ध्रुवधाम को ध्येय बनाकर ध्यान में ध्या। जीव अपने स्वभाव में से संसरण करके परभाव में आया, वह संसार है और परभावों से छूटकर निजभाव में लीन हुआ, वह मुक्ति है – यह दोनों अवस्था है। त्रिकालस्वभावी द्रव्य पारिणामिकभावरूप होने से उसे बन्ध-मुक्ति नहीं है – ऐसे ध्रुवस्वभाव के ध्यान द्वारा वीतरागता की उत्पत्ति और राग का अभाव होता है, वह मोक्ष की क्रिया है, उसमें संवर-निर्जरा आ जाते हैं।

वस्तु, द्रव्यरूप से कायम रहकर पर्याय में उलट-पुलट होता है – ऐसी उसकी अपनी शक्तियाँ हैं। यदि वस्तु बदलती न हो तो दु:खदशा का नाश होकर सुखदशा की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? और यदि ध्रुव न रहती हो तो एक अवस्था का नाश होने के बाद दूसरी अवस्था किसके आधार से होगी? इसलिए द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु है, उसे पहचानना चाहिए, उसे पहचानकर स्वभावसन्मुख एकाग्र होने पर आनन्द के वेदनरूप दशा प्रगट होती है – ऐसी क्रिया को ध्यान कहो, मोक्षमार्ग कहो, या धर्म कहो। पहले विकार के वेदन में एकाग्र था, उसके बदले अब शुद्ध स्वभाव के आनन्द के अनुभव में एकाग्र हुआ। इस प्रकार पर्याय का परिवर्तन हुआ परन्तु उसका ध्येयरूप ध्रुव तो ध्रुव ही रहा है।

देखो! यह वीतरागी न्याय है। ज्ञान को सत्यस्वभाव की ओर ले जाए, अर्थात् अन्तर में जैसा स्वभाव है, वैसा ज्ञान करे, वह सम्यग्ज्ञान ही सच्चा न्याय है। लौकिक न्याय की अपेक्षा यह अन्तर का अलौकिक न्याय त्रिकाल सत्य को सिद्ध करनेवाला है; वह तीन काल में बदलनेवाला नहीं है।

आत्मा का सत्यस्वरूप जैसा है, वैसा भलीभाँति ज्ञान में आये बिना आत्मा को नहीं साधा जा सकता, अनुभव नहीं किया जा सकता। टिकता और बदलता – ऐसे दो अंश होकर पूरा आत्मतत्त्व सिद्ध होता है। पर से पृथक्, शरीर से भिन्न, कर्म से भिन्न और राग से भी पृथक् – ऐसी चैतन्य धातु – जिसने ज्ञानानन्दस्वभाव को धारण किया है, वह त्रिकाल शक्तिरूप ध्रुव शाश्वत् है और अवस्था बदलती है। उसके शुद्धस्वरूप को ध्येय बनाने से अवस्था में विकार मिटकर निर्विकल्पदशा होती है। वह अवस्था स्वयं, स्वयं

का ध्येय नहीं है। अवस्था को पृथक् लक्ष्य में लेने जाए तो विकल्प उठते हैं और ध्यानदशा नहीं रहती है। ज्ञानी के ध्यान में ध्रुव ध्येय है, त्रिकाल चिदानन्दस्वरूप को वह ध्यान में ध्याता है। उस काल में तन्मय होने पर भी, और रागरहित होने पर भी वह ध्यानपर्याय विनश्वर है और ध्येयरूप पारिणामिकभाव अविनश्वर है। ध्यानपर्याय, औपशमिक आदि तीन भावरूप है और ध्येय द्रव्य, पारिणामिकभावरूप है। ध्यान, वह क्रिया है और ध्येयरूप द्रव्य, अक्रिय है। इस प्रकार कथंचित् भिन्नता है परन्तु ध्यान के काल में 'यह द्रव्य और यह पर्याय' ऐसे विकल्प नहीं रहते हैं; उसमें तो अभेद अनुभव का निर्विकल्प आनन्द ही है।

भगवान आत्मा आनन्द से भरपूर ध्रुव पिण्ड में एकाग्र होकर उसे ध्येय करनेवाली दशा, मोक्षमार्ग है। आत्मा का ध्रुवस्वभाव अनादि-अनन्त आनन्द से भरपूर है, अर्थात् पारिणामिकभाव अनादि-अनन्त है। क्षायिकभाव प्रगट होने के बाद ऐसा का ऐसा सदा काल परिणमित हुआ करता है; इसलिए वह सादि-अनन्त है; शेष तीन भावों को सादि-सान्त कहा है। औदायिक और क्षायोपशमिक ये दोनों भाव, प्रवाहरूप से अनादि के होने पर भी वे ऐसे के ऐसे नहीं रहते, कम ज्यादा हैं; इसलिए उन्हें भी सादि-सान्त ही गिना है। औदायिकभाव का एक बार सर्वथा अभाव हुआ, फिर वह कभी उत्पन्न नहीं होता है और क्षायिकभाव एक बार प्रगट होने के बाद कभी जाता नहीं है। यद्यपि उसमें परिणमन है परन्तु सदा काल एक समान पूर्ण शुद्ध रहता है। ध्रुव के अवलम्बन से प्रगट हुआ वह निर्मल आनन्दमय क्षायिकभाव सदाकाल ध्रुव के साथ रहा करता है।

प्रत्येक आत्मा सत् है। अनन्त आत्माएँ मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और अनन्त आत्माएँ संसार में हैं, तथापि शक्तिस्वभाव समस्त आत्माओं का समान है। वर्तमान क्षणिक अवस्था मलिन है, उसे न देखकर ध्रुवतत्त्व को देखो तो उसमें दु:ख या विकार है ही नहीं। उसके सन्मुख जो पर्याय हुई, उसमें भी दु:ख या विकार नहीं है। वह तो स्वभाव के लक्ष्य से आनन्दरूप हुई है। ऐसी दशा प्रगट हुए बिना मोक्षमार्ग नहीं होता है। मैं शुद्ध चिदानन्द अखण्ड तत्त्व हूँ – ऐसा अन्तर अनुभव, वह मोक्ष की क्रिया है। उसी समय ध्रुवभाव अक्रिय है, इस प्रकार अक्रियपना तथा क्रिया ये दोनों वस्तु में एक साथ हैं।

भाई! ऐसा मनुष्य शरीर तो अनन्त बार मिला और छूटा है। यह शरीर कहीं नया नहीं है; अनन्त बार ग्रहण करके छोड़े हुए परमाणु फिर से इस शरीररूप हुए हैं। इनसे भिन्न तेरा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप क्या है, उसकी पहचान कर! वह नवीन है। अमुक शब्दों के अर्थात् अरहन्त, सहजात्मस्वरूप इत्यादि के जाप जपा करे और विकल्प किया करे परन्तु उसके वाच्यरूप-ध्येयरूप शुद्ध आत्मा स्वयं अन्तर में कैसा है ? उसे ध्यान में न ले, तब तक सच्चा कल्याण नहीं होता है। तेरा ध्रुव शाश्वत्पना तथा परिवर्तनपना दोनों तुझमें समाहित होते हैं। बदलने की अवस्था कहीं अन्यत्र और ध्रुव अपने में – ऐसे दो भाग नहीं हैं परन्तु एक वस्तु में एक साथ दोनों भाव अर्थात् दोनों धर्म रहे हुए हैं; उन्हें परस्पर कथञ्चित् भिन्न कहा है।

मात्र बदलना / पर्याय का पलटना, वह कहीं दोष नहीं है; पर्याय का पलटना तो सिद्ध को भी हुआ करता है, वह उपाधि नहीं

है और पलटने के समय ही अखण्ड स्वभाव से भरपूर ध्रुवत्व भी प्रत्येक समय ऐसा का ऐसा वर्त रहा है। उस स्वभाव को भूलकर, अपने को रागादि जितना ही मानकर, अज्ञानी अशुद्धरूप से परिणमित होता है; अशुद्धता, वह दोष है। पूरी शक्ति एक अवस्था जितनी नहीं है, वह तो ध्रुवसामर्थ्य से भरपूर है। ऐसे अपने स्वभाव को जाने बिना शास्त्रों का पठन करे तो भी अज्ञान नहीं मिटता है, सर्वज्ञदेव को परिपूर्ण आनन्द और ज्ञान प्रगट हुए है; तीन काल-तीन लोक जाना है; जैसा वस्तुस्वरूप जाना वैसा वाणी में आया है। उस स्वरूप को झेलकर आचार्यदेव ने जगत् को समझाया है। उस बात को समझकर अनुभव करने से ही जगत् का कल्याण है।

पहले अज्ञानदशा में राग-द्वेष में एकाग्रतारूप आर्त-रौद्रध्यान था; अब आत्मा का भान करके चैतन्यस्वभाव में एकाग्र होने पर धर्म-शुक्लध्यान हुए; सिद्धदशा होने पर वह ध्यान भी नहीं रहता है; इस प्रकार ध्यानदशा विनश्वर है। जितना ध्येय का काल है, उतना ध्यानदशा का काल नहीं है। ध्येयरूप ध्रुवस्वभाव कायम रहनेवाला है; पर्याय कायम रहनेवाली नहीं है। पर्याय कायम रहनेवाली होवे तो अपूर्ण में से पूर्ण दशा नहीं होगी। पर्याय तो परिणमनशील है। ध्रुवता और परिणमन – ऐसा अपना सूक्ष्मस्वभाव लक्ष्य में लेने से सम्यग्ज्ञान होता है। ध्रुवस्वभाव और पर्याय, दोनों का स्वरूप पहचाननेवाले की पर्याय अन्तर में ध्रुवस्वभाव की तरफ झुक ही जाती है और उसके ध्यान में अतीन्द्रिय उपशान्तरस का समुद्र उल्लसित होता है, मोक्ष का सुख अनुभव में आता है। जो ऐसे स्वभाव में उपयोग का जुड़ान करता है, वही सच्चा योगी

और साधक है। बाकी सब तो हठ योग है। शरीर के प्राणायाम इत्यादि आत्मा की चीज नहीं है। राग में धर्म मानकर उसमें उपयोग एकाग्र करे, वह अधर्म है।

देह का और राग का लक्ष्य छोड़कर परम सत् चैतन्य महाप्रभु में लक्ष्य को जोड़े और उसे ध्यावे, वह परम योगी है। जुड़ता है, वह अवस्था है परन्तु वह जुड़ान है किसमें? ध्रुव में; इस प्रकार ध्रुवस्वभाव के साथ पर्याय का जुड़ान / अभेदता करना, वह योग है। ऐसी योग साधना द्वारा मोक्ष सधता है।

द्रव्य है, पर्याय है – ऐसे सत् स्वभाव का महान अस्तित्व स्वीकार किये बिना सच्चा योग या एकाग्रता नहीं होती है। स्वभाव का अस्तित्व कब स्वीकार किया? जब पर्याय उसमें एकाग्र हुई तब। अन्तर का मार्ग – ऐसा अलौकिक है।

भाई! तेरे अन्तर में चैतन्य महासत्ता है, उसमें अनन्त स्वभाव ध्रुवरूप से भरे हुए हैं, उसमें तेरी वर्तमान दशा के उपयोग को जोड़ – ऐसा जुड़ान, ऐसी एकाग्रता ही धर्म का योग है, वह निर्विकार दशा है, उसमें आनन्द है और मोक्षमार्ग है।

संसार में जीव एक गति में से मरकर दूसरी गति में उत्पन्न होता है। इस प्रकार गति का भव बदला करता है, और उसके कारणरूप शुभाशुभभाव भी बदला करते हैं, वे कोई कायम नहीं रहते परन्तु ध्रुवस्वभावरूप से आत्मा कायम रहता है; वह उपजता-विनशता नहीं है। ध्रुव जन्मता नहीं, ध्रुव मरता नहीं – ऐसे आत्मस्वभाव को, हे जीव! तू जान। बन्ध-मोक्ष पर्याय में होते हैं, द्रव्य में नहीं होते हैं; इसलिए ध्रुवद्रव्य, बन्ध-मोक्ष को नहीं करता है। पर्याय, बन्ध-मोक्ष को करती है। इस प्रकार पर्याय का कर्ता

पर्याय ही है, दूसरा नहीं और ध्रुव भी नहीं। इस अपेक्षा से क्रिया, वह पर्याय है और ध्रुव, वह अक्रिय है। इस प्रकार एक ध्रुवरूप अक्रियभाव (द्रव्य) और दूसरा उत्पाद-व्यय की क्रियारूप भाव (पर्याय) ऐसे द्रव्य-पर्यायस्वरूप आत्मवस्तु है, वह चैतन्य भावरूप है और स्वानुभव से ज्ञात होती है।

अहो! आत्मा का ऐसा परम सत्य! यह परम सत्य बारम्बार सुनने योग्य है, समझने योग्य है और अनुभव में लेने योग्य है। अन्दर बारम्बार इसका धोलन करनेयोग्य है। भाई! तेरा ध्रुव लक्ष्य / ध्येय और उसे लक्ष्य में लेनेवाली पर्याय – ये दोनों तुझमें ही समाहित हैं। तेरा लक्ष्य / ध्येय बाहर में नहीं है और अन्दर पर्याय के भेद पड़ते हैं वह भी तेरा वास्तविक लक्ष्य / ध्येय नहीं है। अभेद वस्तु लक्ष्य / ध्येय है, उसके लक्ष्य से मोक्षमार्ग प्रगट होता है और मोक्ष सधता है; भेद के लक्ष्य से मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता और मोक्ष नहीं सधता। सर्वज्ञपद के भण्डार अन्तर के स्वभाव में भरे हैं, उसमें से वे प्रगट होते हैं।

भाई! यह बात गम्भीरतापूर्वक से गहराई से लक्ष्य में लेने योग्य है। तेरा स्वभाव जैसा है, उसकी ही यह बात है। तेरी वस्तु ही ऐसी द्रव्य-पर्यायरूप दो स्वभाववाली है। अरे! तेरी वस्तु में जो भरा है, वह समझना तुझे कठिन पड़ता है, यह आश्चर्य है! स्वयं अपने को न समझे – यह कैसी बात! तेरा वस्तुस्वरूप तो ऐसा ही है और उसे समझने से ही तुझे सुख-शान्ति-धर्म होगा।

बन्ध-मोक्ष अंश के हैं, अंशी के नहीं। पर्याय बँधती है और पर्याय छूटती है, यह व्यवहारनय का विषय है। द्रव्य एकरूप रहता

है, यह निश्चयनय का विषय है। वस्तु में नित्यता और अनित्यता दोनों हैं, स्याद्वाद का यह महासिद्धान्त है, इससे विरुद्ध अन्य प्रकार से मानें तो कुछ सिद्ध ही नहीं हो सकता है।

देखो! कोई भी जीव, जब ऐसा विचार करता है कि मुझे दुःख मिटाकर सुखी होना है, तब उसमें दोनों बातें सिद्ध हो जाती हैं –

१. दुःखदशा मिटाकर सुखदशा हो सकती है – **उत्पाद-व्यय।**

२. दुःख मिटकर मुक्तदशा होने पर स्वयं कायम टिक रहा है – **ध्रुवता।**

इस प्रकार **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** – ऐसा वस्तुस्वरूप है। उसे पहचानने पर ध्रुवस्वभाव के आश्रय से सुख की पर्याय उत्पन्न होती है और दुःखपर्याय नष्ट होती है। इस प्रकार दुःख मिटा और सुख हुआ; अधर्म मिटा और धर्म हुआ, यह क्रिया पर्याय में हुई है; ध्रुव तो ध्रुव है।

परमार्थ से जीव उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् द्रव्य-अपेक्षा से उत्पाद-व्यय नहीं है।

व्यवहार से जीव उत्पन्न होता, अर्थात् पर्याय-अपेक्षा से उत्पाद-व्यय है।

एक गति में से दूसरी गति में जाने पर भी, द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से जीव ऐसा का ऐसा रहता है। ऐसे स्वभाव को भूलकर अज्ञानरूप से वह संसार में भटकता है। स्वभाव को समझकर एक बार मोक्षदशा प्रगट करे तो फिर से चार गति में अवतार नहीं रहेगा। इसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सब आ जाता है। असमझ है, उसे

मिटाना, सच्ची समझ प्रगट करना, ध्रुवरूप से कायम टिका रहना – ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु सिद्ध होती है।

सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर ने ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर आत्मा को साधा और केवलज्ञान प्रगट किया; ज्ञान-आनन्द की परिपूर्ण लक्ष्मी अन्तर स्वभाव में भरी हुई थी, वह पर्याय में प्रगट की और फिर इच्छा बिना वाणी में भी वह स्वरूप जगत को बतलाया। आत्मा की साधना करते-करते बीच में पूर्णता की भावना के विकल्प में जो वाणी बँधी और फिर विकल्प तोड़कर केवलज्ञान होने पर उस वाणी का उदय आया, तब असंख्य प्रदेशों से अमृत वाणी खिरी, उसमें जगत् को पूर्णता की प्राप्ति का मार्ग बतलाया और समवसरण में श्रोताओं ने वह मार्ग झेलकर, आत्मा की समझ की। भगवान ने जिस स्वरूप उपदेश किया, वही वीतरागी सन्तों ने बतलाया है और उसका ही यह उपदेश है।

जीव के पाँच भाव में पारिणामिकभाव को कारण-कार्यरहित निष्क्रिय कहा है और उसका अवलम्बन करनेवाली पर्यायरूप जो परमात्मभावना है, उसे मोक्षमार्ग की क्रिया कहा है। आत्मा, द्रव्य-पर्यायरूप दोनों स्वभाववाली वस्तु सिद्ध की है। अकेले ध्रुव में कारण-कार्य नहीं होता, अकेले क्षणिक में कारण-कार्य नहीं होता; ध्रुव को अवलम्बन करके प्रवर्तमान पर्याय, मोक्ष-कारण है। आत्मा में क्रिया होती है ? हाँ; आत्मा में शुद्धस्वरूप की भावनारूप जो क्रिया है, वह मोक्ष की क्रिया है। रागादिभाव बन्ध के कारणरूप क्रिया है। शुद्ध आत्मा की भावनारूप सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के कारणरूप क्रिया है। उसमें बन्ध के कारणरूप क्रिया, वह औदयिकभावरूप है; मोक्ष के कारणरूप क्रिया, वह औपशमिकादि

भावोंरूप है और पारिणामिकभाव, बन्ध–मोक्ष के कारणरूप क्रिया से रहित है; इसलिए निष्क्रिय है।

परमपारिणामिकभाव, ध्येयरूप है; ध्यानरूप नहीं।

औपशमिक आदि तीन भाव, ध्यानरूप हैं, मोक्ष का कारण हैं।

औदयिकभाव, परभाव है और बन्ध का कारण है।

वस्तु का ध्रुवस्वरूप, उपजता–विनशता नहीं है।

उपजना, विनशना, वस्तु की पर्याय में है।

ये दोनों धर्म, वस्तु में न हों तो दु:ख मिटकर सुख नहीं हो सकता है।

इस प्रकार ध्रुव को न पहचाने, उसे ध्रुव का लक्ष्य कराते हैं, और पर्याय को न माने, उसे पर्याय बतलाते हैं। दो होकर वस्तुस्वरूप है, दोनों को जाने बिना सच्चा ज्ञान नहीं होता और मोक्षमार्ग नहीं सधता है।

यह बात बहुत बार प्रवचन में आती तो अवश्य है, बहुत न्याय आते हैं, उसमें गम्भीररूप से यह सब आता है परन्तु सुननेवाला उसकी गम्भीरता को पकड़ ले तो ख्याल में आवे, वरना ऊपर–ऊपर से सुनकर धारणा कर ले परन्तु यदि अन्दर की गम्भीरता ख्याल में न ले तो वास्तविक रहस्य समझ में नहीं आता है। श्रोता अपने अन्दर मेहनत करके गम्भीरता से पकड़े, तब वास्तविक रहस्य लक्ष्य में आता है और आत्मा का लाभ होता है, अर्थात् अनुभव होता है।

इस प्रकार आत्मा के ज्ञायकस्वभाव का बहुत प्रकार से वर्णन किया अब इस ३२० गाथा की आध्यात्मिक पारायण पूर्ण होने को

आयी है, उसमें अन्त में धर्मात्मा जीव अपने आत्मा को कैसा भाते हैं ? यह कहते हैं।

शुद्धात्मा की भावनारूप परिणति, वह मोक्षमार्ग है – ऐसा कहा। वह भावना कैसी है ? **विवक्षित एकदेश शुद्धनयाश्रित यह भावना, निर्विकल्प स्वसंवेदन लक्षण क्षायोपशमिक ज्ञानरूप होने से एकदेश व्यक्तिरूप है परन्तु ध्याता पुरुष ऐसा भाता है कि सम्पूर्ण निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकपरमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य वही मैं हूँ परन्तु ऐसा नहीं भाता कि खण्डज्ञानरूप मैं हूँ।**

देखो, प्रथम तो मोक्ष के कारणरूप जो यह भावना है, वह ज्ञानरूप है, रागरूप नहीं। यद्यपि यह भावना स्वयं पर्याय है परन्तु इस भावना का विषय अखण्ड आत्मा है। ज्ञानपर्याय स्वयं अन्तर्मुख होकर शुद्धस्वभाव में अभेद हुई, इसलिए वह खण्ड-खण्डरूप नहीं रही, वह अभेदस्वभाव की भावना में एकाग्र हुई। शुद्ध स्वरूप ऐसी भावना, पर्याय है; त्रिकाली द्रव्य उसका विषय है – ऐसी एकदेश शुद्धतारूप जो शुद्धपर्याय प्रगट हुई, उसे भेद डालकर लक्ष्य में लें तो वह एकदेश शुद्धनय का विषय है। उसमें राग नहीं है। यद्यपि पर्याय के भेद, वह व्यवहारनय का विषय है परन्तु उसमें शुद्धता का अंश है; इसलिए उसे एकदेश शुद्धनय कहा है और भावना को एकदेश शुद्धनयाश्रित कहा है। यद्यपि उसका आश्रय / ध्येय तो अन्तर में ध्रुव अभेदस्वभाव है, परन्तु उसे विषय करनेवाला एकदेश शुद्धनय है; इसलिए उसे एकदेश शुद्धनयाश्रित कही है। एकदेश शुद्धनयाश्रित भावना, औपशमिक आदि तीन भाव,

आत्मसन्मुख परिणाम, निर्विकल्प स्वसंवेदन इत्यादि बहुत विशेषणों से मोक्षमार्ग का स्वरूप समझाया है।

ऐसे मोक्षमार्ग की चौथे गुणस्थान से शुरुआत होती है। अहो! चौथे गुणस्थान में भी धर्मी को आत्मा की जितनी प्रभुता प्रगट हुई है, वह तो राग से भिन्न ही है। साथ में राग रहा है; इसलिए कहीं प्रगट हुई शुद्धपर्याय स्वयं रागरूप नहीं हो जाती है। जगत् में तो ज्ञेयरूप से सम्पूर्ण दुनिया है, छहों द्रव्य है, इसलिए क्या शुद्धपर्याय उन छह द्रव्यसहित है ? नहीं, उनसे भिन्न है। उसी प्रकार राग होने पर भी धर्मी को वह ज्ञान के ज्ञेयरूप ही है, ज्ञान उससे भिन्न है। शुद्ध ज्ञान के साथ राग एकमेक नहीं है। चैतन्यबिम्ब आत्मा एकरूप है उसरूप ही धर्मी अपने को अनुभव करता है। चौथे गुणस्थान में भी जितनी शुद्धता है, उसमें राग नहीं है; वह तो रागरहित ही है। चौथे गुणस्थान से शुरु हुआ शुद्धता का अंश बढ़-बढ़कर सिद्धदशा में पूर्ण शुद्धता हुई, उसमें कहीं राग का स्पर्श नहीं है – ऐसा वीतराग का मार्ग है।

सीमन्धर भगवान ने समवसरण में ऐसा आत्मस्वभाव बतलाया और रागरहित मोक्षमार्ग का उपदेश किया। यह बात भव्य श्रोताजनों के कान में पड़ी और उन श्रोताओं ने वैसा अनुभव प्रगट किया। आहा...हा... ! समवसरण की दिव्य शोभा के बीच भगवान ऐसा कहते थे.... भगवान, लोकस्वभाव का वर्णन करते थे और रागरहित मार्ग दिखलाते थे, ऐसा श्रोताओं ने सुना; लोकस्वभाव के श्रोताओं को भगवान तीर्थङ्करदेव ने ऐसा कहा.... ऐसा कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने पञ्चास्तिकाय गाथा ९५ में कहा है – **लोगसहावं सुणंताणं**

हे जीव! मनुष्य का ऐसा अवतार मिला, उसमें ऐसी चीज

लक्ष्य में लेने योग्य है। लक्ष्य पर्याय द्वारा होता है परन्तु पर्याय पर लक्ष्य नहीं है अखण्ड द्रव्य पर लक्ष्य है। अहो, जिनमार्ग के स्याद्वाद की यह अद्भुत लीला है। अनेकान्तमार्ग अमृतरूप है। भगवान परमात्मा का ऐसा स्वरूप है, वह भगवान ने जाना और वाणी में कहा है; कहीं नया बनाया नहीं है।

भाई! तेरा द्रव्य और तेरी पर्याय दोनों स्वयं में है। उसमें झगड़ा और वाद-विवाद किसके साथ? तेरी वस्तु तुझमें पड़ी है, उसे देख... उसका अनुभव कर... दुनिया क्या करती है और क्या कहती है? – उसका तुझे प्रयोजन नहीं है। दुनिया उसके घर रही.... उसके स्थान में वह और तेरे स्थान में तू। तू तेरा सम्हाल! अहो! आचार्यदेव ने करुणा से कैसा स्पष्टीकरण किया है! बाहर के दूसरे विकल्पों की बात तो दूर रहो.... और अपने में बन्ध-मोक्ष के विकल्प भी छोड़कर अन्तर्मुख निर्विकल्प ज्ञान द्वारा अपनी अखण्ड चेतनवस्तु को जानकर, उसमें स्थिर होना, वह मोक्षमार्ग है। अभेदस्वभाव के सन्मुख हुई अपनी स्वतन्त्र पर्याय से ऐसा मोक्षमार्ग सधता है, उसे 'परम अद्वैत' भी कहा जाता है।

अनुभूति में द्रव्य-पर्याय का अद्वैतपना, वह मोक्षमार्ग है; द्वैत का भेद उसमें नहीं रहता है। त्रिकाली वस्तु शुद्ध है, वैसी शुद्धपर्याय प्रगट हुई, उसे परम अद्वैत कहा है। विकल्प में भंग पड़ता था, वह मिटकर अभेद हो गया। निर्विकारी एकदेश शुद्धस्वरूप वीतरागी भावना, वह परम अद्वैत मोक्षमार्ग है – ऐसा वीतरागमार्ग है। जड़-चेतन सब होकर एक – ऐसा कहीं अद्वैत का अर्थ नहीं है। विकार के साथ भी जहाँ एकता नहीं है, वहाँ जड़ की तो क्या बात! स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान स्वयं का है, वह अन्तर में अभेद होकर

अखण्ड आत्मा का अनुभव करता है, तब उसमें द्रव्य-पर्याय के द्वैत का विकल्प नहीं रहता है। ऐसे अनुभव को अद्वैत अनुभव कहते हैं, क्योंकि ऐसे अनुभव में शुद्धात्मा के अतिरिक्त दूसरा द्वैत प्रतिभासित नहीं होता।

ध्यान के समय ध्याता पुरुष क्या ध्याता है ? 'यह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अखण्ड निज परमात्मद्रव्य मैं हूँ' – ऐसा वह ध्याता है। जिसमें गुण-गुणी का भेद नहीं है; यह द्रव्य और यह पर्याय – ऐसा भेद जिसमें नहीं है, ऐसा निर्विकल्प एक अखण्ड आत्मा को धर्मी भाता है। भाता है, अर्थात् अनुभव करता है। अनुभव में आत्मा प्रत्यक्ष प्रतिभासरूप होता है। ऐसे निज परमात्मा में सन्मुख होकर पर्याय उसे ध्याती है। आत्मा की अनन्त शक्तियों में एक प्रकाश शक्ति ऐसी है कि आत्मा स्वयं अपने को प्रत्यक्ष होवे। धर्मी उसे ज्ञान में प्रत्यक्ष करते हैं। धर्मी का ध्येयरूप आत्मा परम पारिणामिकभाव लक्षणवाला है, अविनश्वर है। उस ध्येय में लीन होकर पर्याय उसे ध्याती है। ध्येयरूप ऐसे आत्मा को परमात्मा कहा है। वह कहाँ रहता होगा ? क्या कहीं दूर-दूर रहता होगा ? नहीं, वह तो स्वयं ही है; निज परमात्मद्रव्य मैं स्वयं ही हूँ – ऐसा धर्मी अपने को अनुभव करता है। ऐसे अनुभव को परमात्मभावना कहते हैं। प्रत्येक जीव को ऐसी भावना करने योग्य है।

चिदानन्दस्वभाव के अनुभवरूप भावना है, वह विकल्परूप नहीं परन्तु स्वसंवेदनरूप है; वह क्षायोपशमिक ज्ञानरूप है। (ज्ञान की अपेक्षा से उसमें क्षायोपशमिकभाव है, श्रद्धा की अपेक्षा से किसी को क्षायिकभाव भी होता है, औपशमिक भी होता है अथवा क्षायोपशमिक भी होता है) तीन भावरूप ऐसी भावनापरिणति,

साधक ज्ञानी को होती है; अज्ञानी तो अपने में स्थित भगवान आत्मा के निज निधान को भूलकर बाहर की लक्ष्मी इत्यादि की भावना करता है। अरे! तीन लोक का नाथ भिखारी होकर लोक में भ्रमता है। यह क्या उसे शोभा देता है? आनन्दकन्द सुख भण्डार आत्मा है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान जिसे हो, वह सुख के लिए बाहर में झपट्टे नहीं मारता है; उसे आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं आनन्द भासित ही नहीं होता। अपने स्वभाव में जैसा आनन्द धर्मी ने अनुभव किया है, उस जाति का आनन्द अन्यत्र कहीं शरीर में-लक्ष्मी में-स्त्री में-स्वर्ग में या पुण्य-पाप के भाव में कहीं नहीं है। आत्मा के ऐसे आनन्द का अनुभव होता है, तब जीव को धर्मी कहा जाता है; इसके अतिरिक्त बाहर की क्रिया से धर्मी नहीं कहलाता है। यह सब समझने में अज्ञानी को मेहनत और बोझ लगता है.... परन्तु भाई! यह तो वस्तु सहज है और आनन्ददायक है; आत्मा को साधने में – ध्याने में बोझ नहीं परन्तु आनन्द है। उसमें ही सच्ची विश्रान्ति है।

अरे भगवान! तुझे निज घर का पता नहीं पड़े – यह कैसी भूल? आत्मा में साध्य और साधन क्या, उसके भान बिना राग से धर्म साधना चाहे या आँख बन्द करके बैठे, इससे कहीं धर्म नहीं होता। अन्तर में पूर्णानन्द से परिपूर्ण स्वसत्ता कैसी है? – उसका स्वीकार किये बिना और उसमें झुके बिना ज्ञानचक्षु नहीं खुलते हैं। जैसा स्वभाव है, वैसा जानकर, उस स्वभावसन्मुख ढलना-झुकना -परिणमित होना, वह धर्म है। धर्मी जीव, मोक्ष के लिए किसी परवस्तु / निमित्त का ध्यान नहीं करता, पाप का या पुण्य का ध्यान नहीं करता, भेद का-व्यवहार का या निर्मलपर्याय प्रगट हुई, उसका

भी ध्यान नहीं करता परन्तु ध्रुवस्वभावी परिपूर्ण वस्तु को ध्यान में ध्याता है। उसके ध्येय में निर्मलपर्याय प्रगट हुई, उसे एकदेश व्यक्ति कहते हैं और केवलज्ञान, वह पूर्ण व्यक्तरूप है। व्यक्तपर्याय की अपेक्षा से केवलज्ञान पूर्ण है परन्तु पूर्ण सम्पूर्ण वस्तु की अपेक्षा से तो केवलज्ञान पर्याय भी उसका एक अंश है; इसलिए ध्यानपर्याय का ध्येय वह नहीं है; ध्यान का ध्येय तो अखण्डरूप निज परमात्मद्रव्य है। ध्येय पारिणामिकभावरूप है और ध्यानदशा औपशमिक आदि तीन भावोंरूप है। रागादिरूप उदयभाव तो ध्येय में अथवा ध्यान में एक में भी नहीं आते।

वीतरागी ध्रुवस्वभाव में अन्तर्मुख होकर उसे ध्येय करने से अर्थात् अभेद अनुभव करने से सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक की निर्मलपर्यायें प्रगट हो जाती हैं। पर्याय का या गुण का भेद डालकर ध्येय करने जाये तो राग होता है, चंचलता होती है, चित्त स्थिर नहीं होता। ध्यानदशा तो अनाकुल शान्त वीतरागभावरूप है। अन्तर में सत् वस्तु को ध्येय बनाने की विधि सन्तों ने बतलायी है। मोक्षमार्ग इस प्रकार बतलाया है - कि स्वभाव के ध्यान से जो निर्मलदशा हुई, वह जाननेयोग्य है परन्तु वह ध्येय करने योग्य नहीं है। जैसे व्यवहार उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है, परन्तु वह आश्रय करने योग्य नहीं है। अन्तर में अभेदस्वभाव को ध्याना, भाना, अनुभव करना ही मोक्षमार्ग है।

पर्याय-अपेक्षा से केवलज्ञानादि को 'परमभाव' कहा जाता है; मोक्षदशा को परमपद कहते हैं परन्तु द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से तो शुद्ध पारिणामिकस्वभाव ही परमभाव है – जो त्रिकाल एकरूप है ऐसे परमभावरूप निज परमात्मद्रव्य मैं ही हूँ – ऐसा अन्तर्मुख

परिणति द्वारा धर्मी अनुभव करता है-ध्याता है-भाता है। ध्याता पुरुष अपने आत्मा को ऐसा ध्याता है, वही मोक्ष के कारणरूप ध्यान है। अपने से भिन्न चीज – अनन्त परमेश्वर भगवन्त हुए, उनसे तो स्वयं भिन्न है; ध्याता स्वयं तो अपने ही आत्मा को परमात्मस्वरूप ध्याता है। आत्मा से भिन्न परद्रव्यों का चिन्तवन तो सविकल्पध्यान है, वह ध्यान मोक्ष का कारण नहीं होता है। मोक्ष के कारणरूप ऐसे परमार्थ ध्यान में तो अपना शुद्ध आत्मा ही ध्येयरूप है। उसमें दूसरे पर लक्ष्य नहीं होता है, लक्ष्य और ध्येय दोनों अभेद होते हैं। इसका नाम ध्यान है। वह राग से शून्य है और अतीन्द्रिय ज्ञान से भरपूर है। इस ज्ञान में धर्मी को परलक्ष्य तो नहीं, और अपने में भी 'खण्ड ज्ञानरूप मैं हूँ' ऐसे पर्यायभेद को वह नहीं ध्याता है – भेद के सन्मुख नहीं देखता है; अभेद आत्मा को भाता है। भाता है, अर्थात् ध्याता है; ध्याता है, अर्थात् चूसता है; चूसता है, अर्थात् अनुभवरस का स्वाद लेता है। इस प्रकार धर्मी अपने परमार्थतत्त्व को भा कर-ध्याकर पर्याय में पुष्ट होता है और केवलज्ञान प्रगट करके परमात्मा होता है। इस प्रकार सभी जीवों को अपने परमात्मस्वभाव को ध्याना चाहिए – यह भावार्थ है।

यह मोक्ष के कारणरूप जो भावना है, वह एकदेश शुद्धनय का विषय है, उसमें निर्विकार स्वसंवेदन लक्षणरूप भावश्रुत है। आत्मा की एकदेश शुद्धतारूप यह भावना, मोक्षमार्ग में होती है; पूर्ण शुद्धतारूप मोक्षदशा होने पर भावनादशा नहीं रहती है, वहाँ तो भावना का फल प्रगट हुआ है। मोक्ष के कारणरूप ऐसी इस भावना में धर्मी क्या भाता है? 'जो सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध-पारिणामिक-परमभाव-लक्षण

-निज-परमात्मद्रव्य वही मैं हूँ' – ऐसा ज्ञानी भावश्रुत द्वारा भाता है परन्तु खण्ड ज्ञानरूप मैं हूँ – ऐसा ज्ञानी नहीं भाता है। इस प्रकार शुद्धात्मा की भावनारूप परिणमित होना, वह इस तात्पर्यवृत्ति का तात्पर्य है और यह भावना भवनाशिनी है।

– **सकल निरावरण,** अर्थात् जिसमें बिलकुल आवरण नहीं है।

– **अखण्ड** – जिसमें खण्ड नहीं है, भेद नहीं है।

– **एक** – जिसमें पर्याय का भेद नहीं है,

– **प्रत्यक्ष प्रतिभासमय** – जिसका नाश नहीं है; पर्याय नाशवान है।

– **शुद्ध** – जिसमें किसी प्रकार की अशुद्धता नहीं है।

– **पारिणामिकपरमभाव लक्षण** – जिसमें किसी की अपेक्षा नहीं है; बन्ध-मोक्ष की भी अपेक्षा जिसे नहीं है – ऐसा निरपेक्ष परमभाव सदा ध्रुवरूप / एकरूप रहनेवाला पारिणामिक - स्वभाव।

– **निज परमात्मद्रव्य** – कोई बाहर का दूसरा परमात्मा नहीं परन्तु अपना ही परमस्वभावी परमात्मा, वह धर्मी का ध्येय है।

देखो तो सही! कितने विशेषणों से ध्येयरूप आत्मा की पहचान करायी है! ऐसा ही मैं हूँ – ऐसे स्वयं अपने निज परमात्मा को ध्याने से परमात्मदशा प्रगट होती है, दूसरे भिन्न परमात्मा को ध्याने से शुभराग है, उसके द्वारा परमात्मा नहीं हुआ जाता; इस प्रकार निज परमात्मा का स्वरूप जानकर प्रत्येक जीव को उसकी भावना करनेयोग्य है, उसकी भावना द्वारा ही धर्म और मुक्ति होती है।

इस प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा, परभाव का अकर्ता–अभोक्ता है, यह बात चक्षु के दृष्टान्त से बतलायी। जीव के पाँच भावों का वर्णन करके उनमें से मोक्ष के कारण तीन भाव हैं, यह समझाया। द्रव्य और पर्याय को भिन्नपना किस प्रकार से है, उसकी व्याख्या की और शक्ति तथा व्यक्ति, क्रिया और निष्क्रिय भी बतलाया। ध्यान क्या है और ध्येय क्या है? यह भी बतलाया और अन्त में धर्मी कैसे आत्मा की भावना करता है? यह समझाकर वैसी भावना का उपदेश दिया है।

अब, इस कथन का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि **यह व्याख्यान परस्पर सापेक्ष ऐसे आगम अध्यात्म के अविरोधपूर्वक कहा है तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों के अभिप्राय के अविरोधपूर्वक ही कहा गया है। इसलिए यथार्थ है, सिद्ध है, बाधारहित है – ऐसा विवेकियों को जानना चाहिए.....।**

☆ ★ ☆

राजकोट में आठ दिन और सोनगढ़ में छह दिन की ऐसी कुल चौदह दिन की ३२० गाथा का यह अलौकिक पारायण अब पूर्ण होता है। भगवान आत्मा की यह अपूर्व भागवत कथा है। बहुत–बहुत प्रकार से विस्तार करके इसमें शुद्धात्मा का स्वरूप समझाया है। इसके द्रव्य–पर्याय जैसे हैं, वैसे बतलाये हैं, उसमें कहीं विरोध नहीं है। इस प्रकार यथार्थ वस्तुस्वरूप पहचानकर विवेकी जीवों को – मुमुक्षु जीवों को अन्तर में अपने शुद्धात्मा की भावना करना, यही सबका सार है। राग से भिन्न करके ज्ञानस्वरूप

शुद्धात्मा को बारम्बार भाना – ऐसी भावना द्वारा भव का नाश होकर शिवपद प्राप्त होता है।

– जय हो..... ध्येयरूप परमात्म भगवान की।

– जय हो..... निज परमात्मदर्शन के लिए ज्ञानचक्षु दातार गुरुदेव की।

– जय हो.... अनेकान्त रहस्य भरपूर जैन शासन की।

☆ ★ ☆